दाते महाराज के संस्मरण

जगन्नाथ व्यास

प्रकाशक:
आनन्द कुमार व्यास
K-105, हुडको क्वार्टर्स
प्रताप नगर
जोधपुर

मुद्रक:
हीरा प्रिंट सॉल्यूशंस प्राइवेट लिमिटेड
प्लॉट नंबर A - 313,
T.T.C. औद्योगिक क्षेत्र,
महापे,
नवी मुंबई - 400710

© सर्वाधिकार सुरक्षित
आनन्द कुमार व्यास

प्रथम आवृत्ति 1992
द्वितीय आवृत्ति 2019

मूल्य: रुपये

समर्पण

सद्‌गुरु समर्थ

जोधपुरवासी श्री दाते महाराज

(डॉ. विनायक हरि दाते)

के पावन चरणों में

(तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर)

गुरुमाता का आशीर्वाद

गुरुचरित्र का, गुरु के गुणों का, प्रेम या आदर से वर्णन करना या उनको श्रवण करना परमार्थ में प्रगति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ऐसा दाते साहब बार-बार कहते थे। इसीलिए कुछ समय पूर्व जब मुझे बताया गया कि जगन्नाथ व्यास ने अपने गुरु, दाते साहब, के संस्मरण लिख कर उनके वैविध्यपूर्ण व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट पारमार्थिक पक्ष पर प्रकाश डाला है तो मुझे बहुत आनन्द हुआ। तत्पश्चात् कुछ दिनों पूर्व चि. आनन्द व्यास ने ये सभी प्रसंग एक-एक करके मुझे पढ़कर सुनाये जिससे कई पुरानी, भूली बिसरी घटनाएँ नवीन सी होकर स्मृति पटल पर छा गईं। एक प्रकार का सुखद अनुभव हुआ।

मुझे प्रसन्नता है कि इन प्रसंगों में महत्त्व दाते साहब की 'शिकवण' को दिया गया है न कि उन व्यक्तियों को जो इन प्रसंगों से सम्बन्धित हैं। इससे इन प्रसंगों का पारमार्थिक महत्त्व बढ़ गया है।

मुझे इस बात की भी प्रसन्नता है कि जगन्नाथ व्यास ने इन संस्मरणों को प्रकाशित करने का निश्चय किया है ताकि इससे दाते साहब के व्यक्तित्व का और उनकी पारमार्थिक श्रेष्ठता का परिचय जन-साधारण को भी प्राप्त हो सके।

मुझे पूरा विश्वास है कि उनके इस प्रयास को दाते साहब का आशीर्वाद प्राप्त है।

मालती बाई व्ही. दाते
माताजी

63, जसवंत सराय,
जोधपुर।
जनवरी 11, 1992
अम्बुराव महाराज की पुण्यतिथि

गुरुचरित्र की महिमा

निम्नलिखित ओवियें 'ज्ञानेश्वरी' से ली गई हैं। इनमें संत-चरित्र के वर्णन का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इनका हिंदी अनुवाद दाते साहब द्वारा अनुवादित ज्ञानेश्वरी में से लिया गया है।

आतां असो हें किरीटी। पैं प्रियाचिया गोष्ठी।
दुणा थांब उठी। आवडी गा॥अध्याय 12 ओवी 160॥

रहने दो यह अर्जुन। किंतु भक्तों के कथा-प्रसंग।
बोलने में आता है आनन्द। प्रेम बढ़े द्विगुणित॥160॥

वेणेन्सी आम्हां मैत्र। एथ कायसें विचित्र।
परि तयाचें चरित्र। एकती जे॥अध्याय 12 ओवी 226॥

मेरा है उसके साथ मित्रत्व। इसमें क्या है विचित्र॥
किंतु श्रवण उसका चरित्र। करते हैं जो लोग॥226॥

तेही प्राणापरौंते। आवडती हे निरुतें।
जे भक्त चरित्रातें। प्रशंसिती॥अध्याय 12 ओवी 227॥

श्रवण करके उसका चरित्र। करते हैं जो भक्त-प्रशंसन॥
वे भी मुझे प्राण से ही अधिक। होते हैं प्रिय॥227॥

पै प्रेमळाचि वार्त्ता। जे अनुवादसी पांडुसुता।
ते मानूं परम देवता। आपुली आम्ही॥अध्याय 12 ओवी 238॥

प्रेमल भक्तों की कथा अर्जुन। करते हैं जो अनुवाद गान।
उनको भी मैं परम दैवत। मानता हूँ अपना॥238॥

तैसे हारपलें आपणपे पावे। तैसंतांतें पाहता गिंवसावें।
म्हणोनि वानावे ऐकावे। तेची सदा॥अध्याय 18 ओवी 400॥

जैसे संतदर्शन से आत्म भाव। आ जाए ढूंढत अपने आप।
इसीलिए संतों का ही वर्णन। करो सुनो सर्वकाल॥400॥

निवेदन

दाते साहब के जीवन प्रसंगों के अध्ययन-मनन से जीवन को एक नवीन प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त होती है और परमार्थ विषयक अनेक भ्रान्तियों और भ्रामक धारणाओं का निरसन होकर खरे परमार्थ का पता लग सकता है। इसी उद्देश्य से मैंने दाते साहब के इन संस्मरणों का संकलन किया है। मैंने पिछले कई वर्षों से रविवारीय कार्यक्रमों अथवा अन्य अवसरों पर दाते साहब के परमार्थ विषयक उद्बोधक उद्गारों को नोट करने का क्रम बना रखा था। और ये संस्मरण मूल रूप से उन 'नोट्स' पर ही आधारित हैं। क्योंकि ये 'नोट्स' बिंदु रूप में लिखे हुए थे अतः उनका विस्तार मैंने अपनी स्मृति से उन प्रसंगों को पुनर्जीवित करते हुए किया है। ऐसा करते समय वे प्रसंग मेरे सामने सजीव होकर इस प्रकार आते रहे मानो वे अभी ही घटित हो रहे हों।

इन संस्मरणों में मैंने दो बातों का विशेष ध्यान रखा है—(1) इन संस्मरणों द्वारा दाते साहब के परमार्थ विषयक विचार, साधन और भक्ति मार्ग की एक स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की जा सके और उसको लेकर प्रचलित अंध-विश्वास या रूढ़ परंपराओं की निरोपयोगिता प्रतिपादित हो सके। (2) इसके अतिरिक्त, एक-दो को छोड़कर इन प्रसंगों से सम्बन्धित व्यक्तियों का नामोल्लेख नहीं किया गया है। महत्त्व प्रसंग में निहित पारमार्थिक शिक्षण का है और इसीलिए उसका ही विस्तार किया गया है; व्यक्ति गौण हैं और उनकी प्रासंगिकता

आकस्मिक है। इसके अतिरिक्त नामोल्लेख नहीं होने से अनावश्यक निंदा या स्तुति के दोष से भी बचा जा सका है।

एक महत्त्व की बात और। मैंने इन संस्मरणों में केवल उन प्रसंगों का संकलन किया है जिनके घटित होते समय मैं स्वयं उपस्थित था और इसीलिए मुझे उनका व्यक्तिगत रूप से ज्ञान है अथवा जिनको मैंने स्वयं दाते साहब के मुख से सुना है और इस प्रकार उनकी प्रामाणिकता सुनिश्चित है। इसके अतिरिक्त मेरा यह भी प्रयत्न रहा है कि दाते साहब के अपने शब्दों का, बोलने के ढंग का और वाक्य-विन्यास की शैली का अधिकाधिक प्रयोग हो सके।

परम पूज्या माताजी (श्रीमती मालती बाई व्ही. दाते) ने इन प्रसंगों को आद्योपांत सुनकर स्वीकृति सूचक जो आशीर्वचन प्रदान किया है उसे मैं अपना महद्भाग्य समझता हूँ। यदि मुझे यह स्वीकृति नहीं मिलती तो मैं किसी भी दशा में इन संस्मरणों को प्रकाशित करने का साहस नहीं कर सकता था। मैं उनकी इस महती कृपा के लिए उनको अत्यन्त नम्र भाव से नमस्कार करता हूँ।

डॉ रघुनाथ व्ही. दाते ने न केवल इन संस्मरणों को प्रसन्नता से सुना बल्कि उनके सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दे कर मुझे कई छोटी-बड़ी भूलें करने से बचा लिया। शब्दों द्वारा उनके उपकार को मैं कैसे व्यक्त करूं?

मेरे कुछ प्रिय साधक-बन्धुओं ने भी मुझे समय-समय पर प्रोत्साहित किया। विशेषकर सर्वश्री शिवशंकर जोशी, कन्हैयालाल जोशी, राजीव

सेठ और डॉ. फूलसिंह देवड़ा का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ। उनके प्रोत्साहन ने मुझे साहस और संबल प्रदान किया। मेरे पुत्र आनन्द कुमार, मकरंद कुमार और अरुण कुमार तीनों ने ही मुझे न केवल प्रोत्साहित ही किया बल्कि अपनी शक्ति अनुसार आर्थिक सहायता देकर इन संस्मरणों के प्रकाशन को संभव बनाया। आनन्द कुमार ने इन संस्मरणों की भाषा और भाव के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए और प्रकाशन की व्यवस्था का सारा कार्यभार अपने ऊपर लेकर इसे इतने सुन्दर ढंग से सम्पन्न करवाया। मेरी महाराज से यही प्रार्थना है कि दया करके इन तीनों भाइयों को सद्‌बुद्धि प्रदान कर प्रपंच और परमार्थ दोनों ही क्षेत्र में सफल बनायें।

मरुधर प्रिंटर्स के श्री नरेंद्र जोशी और अशोक जोशी के मैं जितने उपकार मानूं उतने ही थोड़े हैं। उन्होंने पुस्तक के प्रकाशन में अद्‌भुत रुचि दिखाई जिसके फलस्वरूप दो महीनों की अल्पावधि में ही पुस्तक सुंदर ढंग से छप कर तैयार हो गई।

अंत में मैं सद्‌गुरु समर्थ श्री दाते महाराज के चरणो में मस्तक रखकर विनीत भाव से प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे दोषों की ओर दुर्लक्ष करके, मेरे अपराधों को क्षमा करके, अपने सहज स्वाभाविक कृपालुता से मेरा उद्धार करने की दया करें।

जगन्नाथ व्यास

कल्लो की गली,
भजन चौकी के सामने, जोधपुर।
जनवरी 11, 1992
अम्बुराव महाराज की पुण्यतिथि

द्वितीय आवृत्ति की प्रस्तावना

श्री जगन्नाथ जी व्यास द्वारा रचित पुस्तक "दाते महाराज के संस्मरण" की प्रतियाँ सभी साधकगणों के पास हैं और यह पुस्तक उन्हें सद्गुरु दाते साहब की अनेक शिक्षाओं व प्रसंगों से परिचय करवाती हैं।

अब इस प्रथम आवृत्ति की प्रतियाँ समाप्तप्राय हो जाने पर इसकी दूसरी आवृत्ति प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

इस आवृत्ति के लिए स्व. श्री फूल सिंह देवड़ा, प्रो. के. जी. शर्मा, कु. योगिता शर्मा, श्री कमल जी व्यास एवं श्री सतीश कान्त ठाकुर ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। साथ ही, श्री विपुल कोचर, श्री रोहित चौधरी एवं श्री संदीप शर्मा का भी सराहनीय सहयोग रहा।

मेरे अनुज भ्राताओं मकरन्द कुमार एवं अरुण कुमार, मेरे पुत्र एवं पुत्रवधु मुकुन्द – अन्नपूर्णा व्यास एवं पुत्री श्रीमती माधवी जोशी ने भी पुस्तक सम्बन्धी अनेक कार्यों में सहयोग दिया।

इतने सुन्दर प्रकाशन के लिए प्रिन्टर्स भी धन्यवाद के पात्र हैं।

आनन्द कुमार व्यास

K-105, हुडको क्वार्टर्स
प्रताप नगर, जोधपुर

जनवरी XX, 2019
अम्बुराव महाराज की पुण्यतिथि

॥ श्री सद्‌गुरु प्रसन्न ॥

श्री दाते महाराज का
संक्षिप्त परिचय

जन्म:
जून 1, 1900

निर्याण:
अप्रैल 22, 1986

'अरे, तुम ऐसे क्यों बैठे हो? उठो, और कुछ ऐसा कार्य करो जिससे सारे जगत को तुम अपनी बाहों में समेट सको।' ये शब्द हैं गुरुदेव रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे के जो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य डॉ. विनायक हरि दाते को उस समय कहे जब वे जीवन-संघर्ष से जूझते हुए, आशा और निराशा के बीच चढ़ते-उतरते अपने जीवन का गंतव्य ढूंढने का प्रयत्न कर रहे थे। कालांतर में अपने गुरु की कृपा से उन्होंने इस आदेश को, या कहिए भविष्य वाणी को, अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया। उन्होंने देह और देह की उपाधियों से ऊपर उठकर आत्मा के अनन्त रूप से साक्षात्कार प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की और समस्त विश्व में व्याप्त सच्चिदानंदघन आत्मा से एक रूप होकर सारे जगत को ही नहीं बल्कि समस्त विश्व को अपनी बाहों में समेट लिया और तब वे ससीम से असीम, साकार से निराकार, सगुण से निर्गुण और जीवात्मा से विश्वात्मा बन विश्वव्यापी हो गये। अब उनके लिए न तो देश और काल की मर्यादा ही थी और न ही धर्म और सम्प्रदाय

के बन्धन ही। तथापि यह पदवी उन्हें एक ही दिन में प्राप्त नहीं हुई थी। निरंतर अथक परिश्रम, अडिग धैर्य और गुरु की कृपा में अटल विश्वास की सामर्थ्य से दीर्घकाल तक निरंतर, अहोरात्र नाम-स्मरण का अभ्यास किया और प्रापंचिक जीवन की कठिनाइयों, विपत्तियों और कष्टों का सामना करते हुए इसी जीवन में परम पुरुषार्थ की प्राप्ति कर जीवन को धन्य बनाने में सफलता प्राप्त की।

दाते साहब के प्रारम्भिक जीवन की कुछ परिस्थितियां और घटनाएं ऐसी हैं जो उनकी भविष्य की महानता के लिए अनुकूल वातावरण निर्माण करने में सहायक सिद्ध हुई थीं। जीवन के प्रारम्भ में ही माता-पिता को खो देने से व अन्य किसी पारिवारिक सदस्य की उनमें रुचि नहीं होने से वे पारिवारिक संबंधों से एक अनचाहे और कष्टपूर्ण ढंग से मुक्त हो गए थे। प्रारंभ की असहायावस्था आगे चलकर भविष्य की पारमार्थिक दृढ़ता का आधार बन गई। इसी प्रकार महाराष्ट्र में जन्म लेकर भी उनको सागर (मध्य प्रदेश), नडियाद (गुजरात), बेलगांव (कर्नाटक), इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) और जोधपुर और जयपुर (राजस्थान) में पर्याप्त समय तक रहने का अवसर मिला था। फलस्वरूप भारत के विभिन्न प्रांतों की जीवन-शैलियों, जीवन-आदर्श, आचार-विचार और रहन-सहन के साथ ही वहां की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संपदा से घनिष्ठ संपर्क स्थापित करने का सहयोग प्राप्त हो गया जिससे प्रान्तीयता और संकीर्णता स्वतः ही समाप्त हो कर राष्ट्रीयता की व्यापकता का समावेश उनके जीवन में साहजिक रुप

से प्रस्फुटित होता गया। वे महाराष्ट्रीय थे और महाराष्ट्रीय आदर्श ही उनके जीवन का सबल आधार था परन्तु फिर भी उनमें दुराग्रह और संकीर्णता न होकर एक व्यापक समग्रता का दृष्टिकोण विकसित होता गया जो पारमार्थिक धरातल पर आत्म-साक्षात्कार के विश्वव्यापी रूप में परिणित हो गया।

भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो मराठी उनकी मातृभाषा थी और अंग्रेजी और संस्कृत में उनकी शिक्षा हुई थी; अतः इन तीनों भाषाओं का तो अच्छा ज्ञान उनको था ही परन्तु साथ ही कर्नाटक और राजस्थान में उनके लंबे प्रवास के कारण कन्नड़ और हिंदी पर भी उनका अधिकार हो गया। उन्होंने मराठी में कोई ग्रंथ तो नहीं लिखा परन्तु महाराष्ट्र के श्रेष्ठतम वांङ्मय संत-साहित्य, को हिंदी और अंग्रेजी में अनुवादित करके समर्थ रामदास, संत ज्ञानेश्वर और संत तुकाराम जैसे महान संतों के संपूर्ण साहित्य से हिंदी भाषा-भाषी जगत को परिचित कराया। दाते साहब के लिए भाषा का महत्त्व इतना ही था कि उसके द्वारा भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार की जा सके कि वह अन्य लोगों को भी उसी अर्थ में ग्राह्य हो सके जिस अर्थ को ध्यान में रखकर स्वयं उन्होंने उसे लिखा था। आज देश में प्रांतीयता और भाषा को लेकर जैसा उग्र विवाद चल रहा है और उसके कारण जितनी अशांति और रक्तपात हुआ है उसको ध्यान में रखें तो राष्ट्रीयता और समस्त भाषाओं की एकात्मकता का वह महत्त्व जो दाते साहब के जीवन में परिलक्षित होता है और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। पारमार्थिक धरातल

पर भी भाषा का महत्त्व कम और भावों का अधिक है। आत्मा सर्वज्ञानी है और आत्म-साक्षात्कारी संत भी सर्वज्ञ होते हैं अतः वे सभी भाषाएं जानते हैं, उनके लिए भावों की भाषा ही महत्त्वपूर्ण है और भावों की अभिव्यक्ति मानव द्वारा निर्मित किसी भी भाषा में हो सकती है। भाषा गौण और भाव प्रमुख हैं। अतएव दाते साहब के साहित्य में भावों की उदारता और विचारों की प्रांजलता प्रधान है यद्यपि भाषा का सौष्ठव भी अत्यन्त प्रभावशाली है।

इसी प्रकार धर्म और सम्प्रदाय की संकीर्णता का भी उनके जीवन में कोई स्थान नहीं था। उनके अनुसार 'स्वधर्म' अर्थात् आत्म-धर्म की व्यापकता में सभी धर्मों और सम्प्रदायों का समावेश हो जाता है। 'स्वरूपीं राहणे हा स्वधर्म' ही सभी धर्मों का आधार है ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। अतः वे प्राय: पूछते थे—'क्या देव हिंदू है, वह मुसलमान या इसाई है? अरे, देव तो बस देव ही है, फिर देव के नाम पर हृदय संकोच व विचार-संकीर्णता क्यों?' हृदय की यह विशालता जिसमें सभी धर्म और सम्प्रदाय, सभी देश और काल, सभी भाव और भाषाएं समाहित हो गई थीं उनकी अपनी विशेषता थी। उनकी दृष्टि में शैव और वैष्णव का, सगुणवादी और निर्गुणवादी, हिंदू और मुसलमान या यहूदी और ईसाई का धार्मिक वैमनस्य और उसके फलस्वरूप समाज में फैलती हुई कटुता और विद्वेष अज्ञान के कारण आत्म-धर्म से अपरिचित होने के कारण ही हुए हैं। अतः इन विवादों का अंत भी तभी हो सकता है जब आत्म-साक्षात्कार के महत्त्व को पहचान कर उसे स्वधर्म के रूप में अपनाया जा सके। उनके शिष्यों में न केवल

हिंदू ही थे बल्कि जैन, ईसाई आदि सभी थे और वे सब एक समान गुरु-भक्ति के अधिकारी हैं।

गुरु के समस्त उत्तरदायित्वों को पूरा करते हुए भी वे अपने आप को गुरु न कहकर मार्गदर्शक कहते थे। वे स्वयं किसी को नाम-दीक्षा नहीं देते थे, प्रत्येक को रामभाऊ महाराज के आश्रम निंबाल भेजते थे और वहाँ पर उनमें से प्रत्येक को देव के अनन्त नामों में से वही नाम दिया जाता था जिस पर उसकी श्रद्धा स्वाभाविक रूप से होती थी और इसीलिए ईसाई, जैन या अन्य धर्मावलंबी को उनके धर्म का नाम मिल जाने से संभावित संकोच के लिए भी स्थान नहीं रहता था। दाते साहब प्राय: कहते थे, 'गुरु प्रदत्त नाम का स्मरण करो, यह उसी देव का नाम है जिसकी तुम उपासना करना चाहते हो।' उस अनामी देव के नाम का प्रेम और आदर से स्मरण करने से, देव-दर्शन सुलभ होता है यह सभी धर्मों का सर्वमान्य सिद्धांत भी है।

उपरोक्त सभी परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिन्होंने उनको अपने आदर्श की प्राप्ति में सहायता मात्र की थी, उनके जीवन को एक निश्चित मोड़ मिलने का कार्य तो संभव हुआ था उनके गुरुदेव रामभाऊ महाराज के निकट संपर्क में आने से, और उनकी अपनी एकनिष्ठ और अटल गुरु-भक्ति से। परमार्थ के इस राजमार्ग आत्म-साक्षात्कार के महत्त्व का पता उनको गुरुदेव रानडे साहब से लगा। गुरु से नाम-मंत्र लेकर उसको प्रेम और आदर से निरंतर, अहोरात्र, जपने से ही परमार्थ में सफलता प्राप्त होती है; गुरु-वाक्य अर्थात् उनके द्वारा प्रदत्त नाम ही वह साधन है, जिससे रहस्यपूर्ण लगने वाला परमार्थ प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त

सुनिश्चितता में परिवर्तित हो जाता है, यह उन्होंने रामभाऊ महाराज के चरणों में बैठकर ही सीखा था। उनको यह भी ज्ञात हुआ कि एक ओर आचरण की शुद्धता तो दूसरी ओर नाम-स्मरण और रूप-दर्शन परमार्थ के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, परन्तु उनकी प्राप्ति और पालन तभी संभव होता है जब गुरु का सान्निध्य प्राप्त हो और उनके आदेशों का पालन सहर्ष किया जाये। इसीलिए दाते साहब ने अपने गुरु की आज्ञा का कभी भी उल्लंघन नहीं किया, स्वयं अपनी इच्छा को अपने गुरु की इच्छा का छाया मात्र बना दिया। जो उन का आदेश होता उनका वे अक्षरश: पालन करते थे। गुरु ने कहा—'यह नौकरी छोड़ दो' तो उन्होंने तत्काल वह नौकरी छोड़ दी और आर्थिक दृष्टि से होने वाली हानि का विचार तक नहीं किया। इसी प्रकार उन्होंने कहा—'दुर्गा सप्तशती का पारायण बंद करो, गुरु-प्रदत्त नाम के स्मरण में देवी की उपासना भी आ जाती है' तो उन्होंने वर्षों से चले आते सप्तशती के पारायण को बंद कर दिया।

दाते साहब जोधपुर भी रामभाऊ महाराज की आज्ञा प्राप्त करके ही आए थे। जब जोधपुर में प्रोफेसर के पद पर उनकी नियुक्ति हो गई तो उन्होंने गुरुदेव की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए उनको एक पत्र लिखा। गुरुदेव ने पत्र बिना खोले ही अपनी आध्यात्मिक शक्ति से यह जान लिया कि पत्र में क्या लिखा है और तुरंत जोधपुर जाने की स्वीकृति दे दी। फलस्वरूप वे जोधपुर आए और इस प्रकार उनके माध्यम से राजस्थान में परमार्थ-गंगा प्रवाहित हुई। उन्होंने अपने घर पर रविवारीय कार्यक्रम भी अपने गुरु की आज्ञा से ही प्रारंभ किये और शनै:-शनै: उनका प्रभाव इस प्रकार बढ़ा कि दो सौ-तीन सौ लोग

अनुग्रहित होकर परमार्थ के खरे मार्ग पर अब तक आ चुके हैं। आज भी, उनके दिवंगत होने के पाँच, साढ़े पाँच वर्ष पश्चात परमार्थ का कार्य गुरु-कृपा से उनके निवास स्थान पर उनकी पत्नी की देख-रेख में सुचारू रुप से चल रहा है और अधिक से अधिक लोग रविवार व अन्य उत्सवों पर दो-दो घंटे नेम करते हैं, प्रेम से भजन करते हैं और गुरु का जय जयकार करते हैं। इस प्रकार गुरुदेव की आज्ञा और आशीर्वाद से दाते साहब ने जोधपुर में परमार्थ का यह श्रेष्ठ कार्य संपादित करने में भी सफलता प्राप्त की।

गुरु की आज्ञा के पालन से उन्होंने न केवल अपना जीवन ही धन्य बनाया अपितु अनेक लोगों का उद्धार करने में भी वे सहायक सिद्ध हुए। जैसी अडिग उनकी अपने गुरु में आस्था थी वैसा ही अटल विश्वास उनको गुरु प्रदत्त नाम की शक्ति और सामर्थ्य में था। नाम-स्मरण ही वह अमोघ जड़ी है जो इस भवरोग से मुक्ति दिला कर आत्मानन्द की मुक्तावस्था प्रदान कर सकती है। अतः प्रापंचिक कार्यों में अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए भी उन्होंने नाम-स्मरण के साधन का अभ्यास निरंतर जारी रखा। उनके 'नेम' का समय और उसकी अवधि निश्चित थी और यह नाम शक्ति भाऊसाहब महाराज के शब्दों में निरंतर 'चढ़ती-वाढती' रही। उनका रात्रि का अधिकांश समय नाम-स्मरण में ही व्यतीत होता था। निद्रा दो या तीन घंटे से अधिक नहीं होती थी और वह भी धीरे-धीरे कम होती गई। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्हें निद्रा के वश में कभी नहीं देखा गया। महात्मा बुद्ध के शब्दों में वे प्रायः कहा करते थे—'नेम करना है तो रात्रि का दीर्घकाल उपलब्ध है।' गुरुदेव रानडे ने भी उनको कई वर्षों

पूर्व कहा था—'तुमने निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली है।' इस नाम-स्मरण की साधना ने ही उन्हें जीवन की विकट परिस्थितियों से जूझने की और परमार्थ-पथ पर निरंतर अग्रसर होने की शक्ति प्रदान की। अनुभव, विश्वास और दृढ़ता के कारण और गुरु की कृपा संपादित करने से परमार्थ में सिद्धि प्राप्त करना और अन्य लोगों को इसके लिए प्रेरित करना यही उनके जीवन का ध्येय बन गया था।

आजीविका-उपार्जन के लिए वे शिक्षक का कार्य करते थे परन्तु शिक्षक के रूप में उनका उद्देश्य शाब्दिक ज्ञान मात्र देना न होकर अपने विद्यार्थियों में नैतिक और पारमार्थिक जागृति उत्पन्न करना ही था। इसी कारण उनके प्रगाढ़ पांडित्य से, आकर्षक व्यक्तित्व और सरल और निश्चल प्रेम से प्रभावित होकर अनेक छात्र उनकी ओर खिंचते चले आए और तत्पश्चात् पारमार्थिक जीवन के महत्त्व को समझने लगे। आज भी, जैसा ऊपर कहा गया है, बड़ी संख्या में साधक उनके निवास-स्थान पर पारमार्थिक साधन के लिए एकत्रित होते हैं। अपने जीवन-काल में वे उनको प्रापंचिक और पारमार्थिक दोनों ही क्षेत्रों में अत्यन्त उदारतापूर्वक सहायता करते थे। दूसरों का पारमार्थिक हित हो ऐसा करने के लिए उनको कई बार धन-हानि व मान-हानि भी सहन करनी पड़ी थी, परन्तु उन्होंने उसकी कभी परवाह नहीं की। स्वार्थी और कपटी लोग भी यदि अपने पूर्व आचरण के लिए पश्चाताप कर सही मार्ग पर आना चाहते थे तो वे उनको नि:संकोच क्षमा कर उचित मार्ग-दर्शन करने को सदैव तत्पर रहते थे। इस प्रकार शिक्षक

के रूप में भी उन्होंने अपने गुरु के पारमार्थिक कार्य को ही आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया।

इसके अतिरिक्त गुरुदेव रानडे साहब के पद-चिह्नों पर चलते हुए उन्होंने परमार्थ-प्रसार के उद्देश्य से ही आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना की और उनके प्रकाशन के लिए एक संस्था की स्थापना भी की। उनके ग्रंथ, जो संख्या में करीब पैतीस हैं, परमार्थ के महत्त्व को प्रतिपादित करने और उसके रहस्य को उद्‌घाटित करने का ही कार्य करते हैं। ब्रह्मसूत्र पर उनका भाष्य Vedanta Explained और उसमें सौ पृष्ठों का उनका स्वतंत्र निबंध अद्वैत वेदांत का अनुभवपरक अर्थ प्रस्तुत करता है। श्रीमद्भगवद्गीता पर उनके भाष्य Brahmayoga of the Gita में, यह बताया गया है कि ब्रह्मयोग ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है, न कि कर्मयोग, कुंडली योग या अन्य कोई अवांतर योग। Upanisad Retold के माध्यम से भारतीय आध्यात्मिक साहित्य के सूक्ष्मतम पक्ष को उजागर किया गया है और इस प्रकार 'आत्म-साक्षात्कार' या 'ब्राह्मी स्थिति' ही मानव-जीवन का अंतिम ध्येय है ऐसा अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया गया है। जैसा कि सभी लोग जानते हैं उपनिषद् ही साक्षात्कार-मार्ग की आधारशिला है। श्रुति ग्रंथों में उपनिषद् ही वह भाग है जो आत्म-साक्षात्कारी ऋषियों के अनुभव को भाषाबद्ध करता है। दाते साहब ने अपने ग्रंथ में इसी अनुभव-जन्य सत्य को प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उन्होंने महाराष्ट्र के महान संतों—श्री ज्ञानेश्वर, श्री समर्थ

रामदास और श्री तुकाराम—के ग्रंथों का हिंदी व अंग्रेजी में अनुवाद कर उनकी पारमार्थिक श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराया है। पारमार्थिक जीवन में आने वाली अनेक कठिनाइयों, दुविधाओं, जटिलताओं और उलझनों का किस प्रकार सामना किया जा सकता है इसे बताने के लिए उन्होंने Puzzles of Spiritual Life, Rock and Religion, Three Ways of Expressing Devotion, Yoga of the Saints आदि ग्रंथों की रचना की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दाते साहब ने गुरु-कृपा और अपने प्रयत्नों से वह कर दिखाया जिसे करने का आदेश उनके गुरु ने उनको दिया था। उनका जीवन परमार्थ साधन का जीता-जागता चित्र है, उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य स्वयं अपने लिए परमार्थ-सिद्धि प्राप्त करना और अन्य लोगों को आत्म-साक्षात्कार के राजमार्ग की ओर आकर्षित कर उनका मार्ग-दर्शन करना था। इस कार्य के लिए उन्होंने अपनी समस्त शक्तियाँ—शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक—लगा दीं और स्वयं अपने कष्टों की परवाह किए बिना जग-कल्याण का वह महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित किया जिससे उनके गुरु के आदेश का पालन और उनके उद्देश्य की पूर्ति संभव हो सकी। आज यही कार्य 63, जसवंत सराय में उनकी पत्नी माताजी, श्रीमती मालती बाई व्ही. दाते उसी उत्साह और लगन के साथ कर रही हैं जिससे परमार्थ-पथ पर लगे साधकों को प्रोत्साहन और उचित मार्ग-दर्शन प्राप्त हो रहा है।

"श्रीराम"

(1)
केवल सद्‌गुरु ही देव-दर्शन कराने में समर्थ हैं

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो एक मंदिर से दूसरे मंदिर को, एक तीर्थ-स्थान से दूसरे तीर्थ-स्थान को या एक संत-सभा से दूसरी संत-सभा को निरंतर जाते रहते हैं, परन्तु खरा परमार्थ जो गुरुगम्य है उसकी उपेक्षा करते हैं। उनमें से कुछ के मन में यह बात भी घर कर गई है कि परमार्थ-पथ कष्टों और संकटों से भरा है। एक बार रविवार के कार्यक्रम में उनको ही लक्ष्य करके दाते साहब ने कहा—"कुछ लोग मंदिरों और तीर्थ-स्थानों के भ्रमण को ही परमार्थ समझ बैठे हैं परन्तु यह उनकी भूल है। वहाँ देव (परमेश्वर) कहाँ है? वहाँ तो केवल पत्थर और पानी हैं। एक संत से दूसरे संत की सभा में जाने से भी क्या लाभ यदि हम जानते ही नहीं कि वह सच्चा संत है भी या नहीं। अरे बाबा, सद्‌गुरु के पास जाओ, उनसे नाम-मंत्र लो और उसे रटो तभी देव-दर्शन संभव है। 'बहु हिंडता सौख्य होणार नाहीं' ऐसा रामदास महाराज ने भी कहा है।"

तब एक साधक ने पूछा—'संत तो सभी एक हैं, तब किसी भी संत के पास जाओ फल तो देव-दर्शन ही होगा।'

दाते साहब: सभी संत एक कैसे हो सकते हैं? जिसने स्वयं देव-दर्शन किया नहीं वह दूसरों को देव-दर्शन कैसे करा सकता है? कोई भी दाढ़ी वाला, गले में रुद्राक्ष की माला डालकर व सिर पर कफनी बाँध कर संत कैसे बन सकता है? इसीलिए हर किसीके पीछे लगने से क्या लाभ? सच्चे संत के पास जावो, उससे नाम-मंत्र लो तो कुछ मिलेगा। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं।

साधक: हमें कैसे पता चले कि कोई संत साक्षात्कारी है या नहीं?

दाते साहब: अरे बाबा, जो संत तुमको ईश्वर-दर्शन करवा सके वही सच्चा संत है, वही सद्‌गुरु पद के योग्य है। मैं कहता हूँ, मेरी जिम्मेदारी है, तुम निंबाल जाओ, वहाँ समाधि पर नाम-मंत्र लेओ और उसे छः महीने तक रटो—दो घंटे प्रतिदिन ही रटो, और यदि तुम्हें पारमार्थिक अनुभव नहीं आये तो मुझे कहना।

साधक: परन्तु कहते हैं कि आत्मा ही गुरु है फिर देहधारी गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है?

दाते साहब: तुमने आत्मा देखा है क्या? आत्मा गुरु है यह संत-वाक्य सत्य है, परन्तु आत्म-दर्शन देहधारी गुरु से नाम लिये बिना होगा नहीं। तो फिर 'आत्मा ही गुरु है' ऐसा व्यर्थ में कहने से क्या लाभ? पहले आत्मा को देखो और तब समझोगे कि आत्मा ही गुरु है। उससे पहले तुम अपनी इच्छाओं के पीछे दौड़ते रहोगे और इसीलिए एक गुरु के पास टिक कर नहीं रह पाओगे।

साधक: कुछ संतों के जैसे तुकाराम, रामदास आदि के देहधारी गुरु थे ही नहीं।

दाते साहब: रामदास आदि से सामान्य लोगों की क्या तुलना? फिर उनके लिए तो देव स्वयं गुरु बन कर आते हैं। ऐसा तर्क वे लोग करते हैं, जो देव-दर्शन नहीं चाहते, केवल विवाद करना चाहते हैं। किन्तु नाम-धारक को ऐसा करना उचित नहीं।

(2)
तखत तरे का शूरमा

दाते साहब प्रतिवर्ष अपने गुरु-स्थान निंबाल जाते थे। एक बार वे, माताजी (श्रीमती मालती बाई व्ही. दाते) और जोधपुर से इक्कीसेक अन्य साधक निंबाल जाते समय बीचमें बम्बई में रुके। वहाँ से दो तीन महाराष्ट्रीय परिवार भी साथ हो लिए। इस प्रकार एक पूरी बस भर कर वे निंबाल पहुंचे। उस समय मिसेज रानडे निंबाल में ही थे। उन्होंने एक दिन दाते साहब को प्रवचन करने की आज्ञा दी। जोधपुर व बम्बई के साधकों के अतिरिक्त कुछ साधक बीजापुर, कोल्हापुर आदि नगरों से भी आये हुए थे। प्रवचन के लिए रामभाऊ महाराज का वह स्थान निश्चित किया गया जहाँ रामभाऊ महाराज अपने जीवन-काल में sittings करते थे। दाते साहब अन्य साधकों के साथ ही बैठे थे और वह स्थान रिक्त छोड़ दिया जहाँ रामभाऊ महाराज बैठते थे।

मिसेज रानडे दाईं ओर एक झूले में बैठे थे। उन्होंने दाते साहब को प्रवचन प्रारम्भ करने का आदेश दिया।

दाते साहब उस स्थान पर आये जहाँ रामभाऊ महाराज बैठते थे, परन्तु वो वहाँ बैठे नहीं, खड़े ही रहे। फिर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

"इस घर में मेरे लिए बैठने या खड़े रहने का उपयुक्त स्थान वह है (उन्होंने अंगुली से उस स्थान की और संकेत किया जहाँ उस दिन की उपस्थित भक्त मंडली ने अपने जूते उतार कर रखे हुए थे)। इस गुरु-स्थान के महत्त्व को देखते हुए मेरी योग्यता इससे अधिक नहीं है। जहाँ मैं खड़ा हूँ वहाँ रामभाऊ महाराज बैठते थे, क्या मैं यहाँ खड़ा भी हो सकता हूँ? फिर भी गुरुमाता की आज्ञा का पालन करने के लिए ही मुझे यहाँ खड़ा होना पड़ा है। अब जो कुछ रामभाऊ महाराज से मैंने सीखा है उसीको यहाँ निवेदन करूंगा ..."

कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका प्रवचन अत्यन्त उद्बोधक और सारगर्भित था। सभी उपस्थित भक्त-मंडली गदगद हो गई और उनके प्रवचन की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी। बीजापुर के एक साधक ने तो यहाँ तक कहा कि रामभाऊ महाराज के प्रवचनों के समान ही यह प्रवचन उत्तम कोटि का हुआ है। परन्तु सर्वाधिक प्रभाव उनके प्रारम्भिक शब्दों से प्रकट उनकी गुरु-भक्ति और विनम्रता का रहा—इन शब्दों ने सभी का हृदय द्रवित कर दिया। स्वयं मिसेज

रानडे ने उनसे कहा—'गुरुदेव के प्रति तुम्हारा आदर और प्रेम स्तुत्य है। एक तुम ही ऐसे हो जो गुरु-स्थान के लिए इतना आदर रखते हो और नवीन-नवीन साधकों को यहाँ लाते हो। यहाँ तो कई स्वयं गुरु बन बैठे हैं।'

दूसरे दिन सभी निंबाल से रवाना हो रहे थे। सभी लोग बस में बैठ गए थे। दाते साहब बस के दरवाजे के पास खड़े किसी से बात कर रहे थे। मिसेज रानडे अपने मकान के बगीचे में हाथ में छड़ी लिए टहल रही थीं। वहीं से उन्होंने आवाज दी—'विनायक' और दाते साहब उस वृद्धावस्था में भी उनकी आवाज सुनते ही दौड़ते हुए, वास्तव में दौड़कर, उनके पास पहुँचे और गुरुमाता के सामने विनम्र भाव से खड़े हो गए। अपने गुरु के प्रति और इसी कारण गुरु-स्थान और गुरुमाता के प्रति उनका यह कैसा अद्‌भुत प्रेम और आदर था।

(3)
गुरु चरित्र ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है

एक बार जयपुर में सन् 1961 में डॉ. पदकी नामक एक गृहस्थ दाते साहब से मिलने शाम के लगभग पाँच बजे आए। वे रामभाऊ महाराज के व्यक्तिगत चिकित्सक रहे थे और उनके निकट संपर्क में रह चुके थे। वैसे वे बैंगलूर में रहते थे परन्तु किसी कार्यवश उनको जयपुर आना पड़ा था और वहाँ अपना कार्य समाप्त करके जयपुर छोड़ने से पूर्व दाते साहब से मिलने की इच्छा से उनके घर आए थे।

दाते साहब नेम (नाम-स्मरण) में बैठे थे, सूचना मिलने पर उठकर आये और उनसे प्रेम से मिले। शिष्टाचार की प्रारंभिक वार्ता के पश्चात् रामभाऊ महाराज की चर्चा चल पड़ी। दाते साहब ने स्वयं अपने और घर के सभी कार्य स्थगित कर दिए और सभी लोगों को वहाँ बुला लिया जहाँ डॉ. पदकी बैठे थे। वार्ता का क्रम इस प्रकार चला कि हम सब कुछ भूल कर उसी में खो गए। उन्होंने (डॉ. पदकी ने) स्वयं को नाम-दीक्षा किस प्रकार मिली उसका वृत्तांत अत्यन्त रोचक ढंग से कहा।

"मैं रामभाऊ महाराज के व्यक्तिगत चिकित्सक के रूप में उनके निकट संपर्क में रहा था, परन्तु उन्होंने कभी भी मुझसे परमार्थ विषयक चर्चा नहीं की और न ही मैं यह जान सका कि वे कितने महान् संत थे। उनके पास रहने और बातचीत करने में आनन्द आता था। आश्चर्य यह कि मेरे मन में न जाने कैसे परमार्थ की दीक्षा लेने की इच्छा उत्पन्न हुई। मैंने पंजाब के एक संत के विषय में सुन रखा था। अतः एक दिन मैं उनके पास दीक्षा लेने के लिए गया, परन्तु संयोग कुछ ऐसा हुआ कि मैं जब वहाँ गया तो वे संत बीमार थे और उनका ऑपरेशन होने वाला था। मुझे ही उनका ऑपरेशन भी करना पड़ा। वहीं मुझे यह भी पता चला कि संत अपनी रुग्णावस्था में किसी को नाम-दीक्षा नहीं देते। उन्होंने कृतज्ञता प्रकट करते हुए मुझे किसी अन्य अवसर पर आने को कहा। मैं निराश होकर इलाहाबाद लौट आया। तब वहाँ के साधकों ने मुझे रामभाऊ महाराज की पारमार्थिक श्रेष्ठता का परिचय कराया और मुझे रामभाऊ महाराज से नाम लेने के लिए विनती करने

को कहा। रामभाऊ महाराज तब तक किसी को नाम नहीं देते थे जब तक की वह व्यक्ति स्वयं उनसे प्रार्थना नहीं करता, ऐसा उन साधकों ने मुझे बताया। तब मैंने रामभाऊ महाराज से नाम-दीक्षा देने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया और मुझे नाम मिल गया। उसके बाद मुझे यह भी पता चला कि मेरे इधर-उधर जाने की बात जब कुछ साधकों ने रामभाऊ महाराज से कही तब उन्होंने शांत चित्त से इतना ही कहा, 'वो कहाँ जायेगा?' "

इसी प्रकार वार्ता के क्रम में उन्होंने रामभाऊ महाराज के इस भूतल पर उनके अंतिम दिनों की चर्चा की। उन्होंने कहा, 'मैं बैंगलूर में रहता था। रामभाऊ महाराज की बीमारी की सूचना मुझे वहीं (बैंगलूर) मिली। मैं वहाँ से इलाहाबाद गया। रामभाऊ महाराज का स्वास्थ्य चिंताजनक था। वे उठ भी नहीं सकते थे। कभी-कभी तो करवट बदलना भी कष्टप्रद हो जाता था। ऐसी अवस्थामें भी उन्होंने निंबाल जाने की इच्छा प्रकट की। समस्या उन्हें वहाँ कैसे ले जाया जाये यह थी। वे कभी-कभी उठकर फुदक कर आगे बढ़ते थे। परन्तु उनकी इच्छा के अनुरूप उनको निंबाल ले जाया गया। पूरे प्रवास में जिन कठिनाइयों का भय था उनमें से कोई भी कठिनाई हुई नहीं।'

इसी प्रकार रामभाऊ महाराज के विषय में चर्चा चलती रही और समय का भान ही नहीं रहा। रात के नौ बज गए थे। अकस्मात् सभी जैसे नींद से जाग उठे। डॉ. पदकी भी व्यस्त से होकर उठ खड़े हुए। सभी से प्रेम पूर्वक विदाई लेकर उन्होंने वहाँ से प्रस्थान किया। उनके

जाने के बाद दाते साहब ने उपस्थित लोगों से आरती करने को कहा। रात्रि-भजन के लिए पूछने पर उन्होंने कहा—'इतनी देर तक रामभाऊ महाराज के जीवन-चरित्र को जो सुना था वह क्या रात्रि-भजन से कम था? रात्रि-भजन में और विशेष क्या है? आरती करो।' और तब आरती करके विसर्जन हुआ।

(4)
नाम का महत्त्व

परमार्थ-सोपान में तुलसीदास के दोहे 'जेहि सुमिरत भया भांग से तुलसी तुलसीदास' का निरूपण करते हुए दाते साहब ने कहा—

तुलसीदास राम-नाम का प्रताप बताते हुए कहते हैं कि राम-नाम का स्मरण करते करते वे 'भांग' से तुलसी हो गए। उनमें इससे क्या परिवर्तन आया? भांग एक नशीला पदार्थ है। इसके सेवन से एक व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है, उसकी बुद्धि कुंठित हो जाती है और व्यवहार में विसंगतता आ जाती है। यह संसार भी भांग की ही तरह मादक है। इसमें एक व्यक्ति को सुंदर-स्वास्थ्य, अतुल शक्ति, अनुपम सौंदर्य, अपार संपत्ति, और उत्कृष्ट विद्वता आदि का नशा चढ़ता है, और वह उन्मत्त-सा व्यवहार करने लगता है। कालांतर में यही उन्मत्तता उसके गले की फांसी बन जाती है और जिस प्रकार भांग का सेवन करने वाला व्यक्ति अपना स्वास्थ्य व संपत्ति नष्ट कर हास्यास्पद

बन जाता है, वैसे ही संसारमद में भूला व्यक्ति अपना अहित स्वयं आप ही कर डालता है।

परन्तु यदि यही व्यक्ति तुलसी महाराज की तरह राम-नाम का सतत स्मरण करे तो उसको यह संसार बाधा नहीं कर सकता, वह भांग से तुलसी बन जाता है। 'तुलसी' का पौधा गुणकारी है, औषधि के रूप में काम आता है, और पवित्रता के कारण वह घर-घर में पूजा जाता है। इसी प्रकार राम-नाम का स्मरण करने वाला व्यक्ति स्वयं तो पवित्र होता ही है, अन्य लोगों को भी इस भव-रोग से मुक्त कर पवित्र बना देता है। उसके संपर्क में आकर संसारी जीव भी परमार्थी बन जाते हैं। ऐसा अपार प्रभाव है राम-नाम का और यही बात तुलसीदास महाराज स्वयं अपने अनुभव से कहते हैं। सांसारिक विषयों में लिप्त भांग के समान मादक तुलसीदास किस प्रकार राम-नाम के सेवन से प्रपंच के जाल से छूटकर मुक्त हो गए और तुलसी के पौधे के समान ही परोपकारी, गुणवन्त और पवित्र बन गए।

(5)
नाम-स्मरण निश्चित समय पर ही करना चाहिए

एक बार एक गृहस्थ निंबाल गए और वहाँ उन्होंने रामभाऊ महाराज की समाधि पर नाम भी लिया। इसके बाद वे नाम-स्मरण के

लिए बैठे तो पूरे चौबीस घंटे बैठे ही रहे, दूसरे दिन ही उठकर बाहर आए। यह वृत्तांत दाते साहब को बताया गया तो उन्होंने कहा—

"एक दिन चौबीस घंटे नाम-स्मरण करना और फिर बिल्कुल नाम-स्मरण नहीं करना इसे उचित कैसे माना जा सकता है? ऐसा अनावश्यक उत्साह (enthusiasm) के कारण होता है, परन्तु 'enthusiasm bursts, sincerity lasts', ऐसा उत्साह भंग होता है, ठहरता नहीं। अच्छा तो यह हो कि प्रतिदिन एक निश्चित समय पर, निश्चित अवधि तक नाम-स्मरण किया जाये और फिर धीरे-धीरे इस अवधि में वृद्धि की जाये। इस प्रकार किए गए ध्यान का प्रभाव स्थाई होता है और वह परमार्थ की दृष्टि से हितकारी भी है। एक दिन के उत्साह में बहुत लंबे समय तक ध्यान में बैठने से थकावट तो आती ही है, नाम-स्मरण भी अच्छा नहीं होता और वह व्यर्थका दिखावा मात्र रह जाता है। एक साधक को ऐसा न करके प्रतिदिन दो या तीन घंटे एक निश्चित समय पर ही नाम-स्मरण करना चाहिए। याद रखिए उस निश्चित समय में देव आपकी प्रतीक्षा करता है और उस समय नेम (नाम-स्मरण) में नहीं बैठने से देव की अवमानना हो जाती है।"

(6)
नाम-स्मरण मनोयोग पूर्वक करना चाहिए

परमार्थ-साधन में नाम-स्मरण का महत्त्व सर्वोपरि है। दाते साहब कहते थे कि नाम का उच्चारण मन में ही करना चाहिए, मन के कानों

से सुनना चाहिए और बुद्धि के नयनों से उसका अर्थ अर्थात् रूप देखना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत हमारा नाम-स्मरण मशीनवत निर्जीव होता है। मनोयोग-पूर्वक किए गए नाम-स्मरण से आनन्द होता है, परन्तु जब मुख नाम को मशीनवत रटता है और मन कहीं अन्य स्थान पर भ्रमण करता है, तब बुद्धि के नेत्र भी मुंद जाते हैं और केवल जड़ता और नीरसता शेष रह जाती है। इसको वे एक उदाहरण द्वारा अत्यन्त विनोदपूर्वक ढंग से कहते थे।

जब किसी मृत देह को श्मशान भूमि की ओर ले जाया जाता है तब उसको उठाकर चलने वाले लोगों का आगे का दल 'राम नाम' ऐसे चिल्लाता है और पीछे का दल 'सत्य है' कहता है। आगे चलने वाले लोगों को यह पता नहीं कि 'राम नाम' क्या है और पीछे चलने वाले लोगों को यह पता नहीं कि 'सत्य' क्या है। और ऊपर वाले (मृत-देह) को कुछ भी पता नहीं होता। वह जड़वत् निर्विकार लेटा रहता है।

इसी प्रकार मन को यह पता नहीं कि मुख क्या रट रहा है और मुख नहीं जानता कि इस रटन का क्या महत्त्व है। इधर बुद्धि दोनों से अलिप्त, निर्विकार जड़वत रहती है। ऐसी दशा में नाम-स्मरण में आनन्द कैसे आ सकता है और उसके द्वारा परमार्थ सिद्धि कैसे संभव हो सकती है?

(7)
पथ्य का पालन कठोरता से करना चाहिए

निंबाल सम्प्रदाय में श्री भाऊ साहब महाराज के समय से यह परंपरा रही है कि नाम-दीक्षा लेने से पहले एक व्यक्ति को दासबोध अपने सिर पर रख कर यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वह दूसरे की संपत्ति और दूसरे की स्त्री पर अधिकार करने का प्रयत्न नहीं करेगा, उनको त्याज्य मानेगा, उन पर कुदृष्टि भी नहीं डालेगा। रामभाऊ महाराज ने शपथ की इस प्रथा को तो बंद कर दिया परन्तु 'परधन' और 'परस्त्री' को त्याज्य समझने का आग्रह परंपरा के अनुसार ही रखा। दाते साहब भी पथ्यपालन को पूरा महत्त्व देते थे और साधकों को बार-बार इसके पालन के प्रति सचेष्ट करते रहते थे। एक बार एक साधक के विषय में उनको यह पता चला कि उसने किसी अन्य व्यक्ति की अविवाहित कन्या से अनुचित सम्बन्ध जोड़ा हुआ है। उन्हें यह भी बताया गया कि वह साधक प्रायः कहता है कि कन्या अविवाहित होने से 'परस्त्री' नहीं है और उससे सम्बन्ध जोड़ने से शपथ का उल्लंघन नहीं होता। जो किसी की नहीं है उसे परस्त्री कैसे कहा जा सकता है।

उपरोक्त व्यक्ति को ध्यान में रखकर ही रविवार के कार्यक्रम में एक बार दाते साहब ने कहा—'परधन' और 'परस्त्री' से तात्पर्य 'किसी दूसरे का धन' और 'किसी दूसरे की स्त्री' तो होता ही है, परन्तु उसका वास्तविक अर्थ यह है कि जो संपत्ति हमने अपने परिश्रम से कमाई है

वही हमारी है, शेष सब 'परधन' है। सड़क पर यदि सौ रुपए का नोट पड़ा हुआ मिले तो उसे अपना समझ कर उठाना व अपने काम में लाना अनुचित है क्योंकि न तो वह आपका कमाया हुआ धन है और न ही आप यह जानते हैं कि यह किसका है। सुरक्षित उपाय यही है कि सच्चाई व ईमानदारी से स्वयं के परिश्रम से कमाया हुआ धन अपना समझना चाहिए और शेष सब धन त्याज्य समझना चाहिए। इसी प्रकार 'परस्त्री' से तात्पर्य स्वयं अपनी विधिवत विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को 'परस्त्री' समझकर माता व बहिन के समान समझना चाहिए। अविवाहित होने से कन्या आपकी नहीं हो जाती, वह 'परस्त्री' ही है और निकट भविष्य में ही वह किसी की होने वाली भी है। अनैतिक आचरण को कुतर्क द्वारा उचित नहीं ठहराया जा सकता।

एक अन्य अवसर पर इसी सम्बन्ध में उन्होंने पूछा—'परस्त्री' व 'परधन' दोनों ही त्याज्य हैं यह तो सत्य है ही, परन्तु इन दोनों में से किसका उल्लंघन अधिक हानिकारक व घातक है?

प्रश्न के उत्तर इधर-उधर से तो बहुत आए परन्तु संतोषजनक एक भी नहीं था। इस पर दाते साहब ने कहा—'परस्त्री' संसर्ग का दोष दो व्यक्तियों को लगता है और उसका फल भी उन दोनों को ही भोगना पड़ता है, परन्तु 'परधन' हड़प जाने का पाप तो उस व्यक्ति की सात पीढियों तक के लोगों को नहीं छोड़ता। आगे आने वाली निर्दोष संतान को भी उसका फल भोगना पड़ता है। इस दृष्टि से 'परधन' ही अधिक हानिकारक है।

(8)
परमार्थ के लिए सब कुछ खोने की तैयारी आवश्यक

एक बार परमार्थ-सोपान के दोहे 'परमारथ के कारणे सब धन दीना खोय। मूरख जाणे गुम गया दिन दिन दूणा होय।' के वाचन के पश्चात् दाते साहब ने पूछा—'सब धन खो देने से क्या तात्पर्य है? कबीर महाराज ने ऐसा कहने को क्यों कहा है?' एक साधक ने उत्तर दिया—'धन-संपत्ति का मोह परमार्थ में बाधक है इसलिए उसे अन्य सामाजिक और पारमार्थिक कार्यों में लगा देना चाहिए। उसका संचय नहीं करना चाहिए।'

दाते साहब: परन्तु इस प्रकार सब कुछ बांट देने से स्वयं हमारा प्रपंच कैसे चलेगा? और दूसरी ओर 'मैंने दान किया है, मैं दाता हूँ' ऐसा अहंकार आयेगा। इतना ही नहीं 'दुगना' प्राप्त करने की लालसा भी मन में कहीं न कहीं अवश्य रहेगी। इन सबके होते परमार्थ कैसे बढ़ेगा?

साधक: जो ऐसा करता है उसका योग-क्षेम देव चलाता है।

दाते साहब: क्या तुम ऐसा करने को तैयार हो? क्या ईश्वर पर विश्वास रखकर अपनी सारी संपत्ति बांट देने की तुम्हारी तैयारी है?

साधक का सिर नीचा हो गया। वह निरुत्तर हो गया। उसे न तो 'हाँ' कहते बना और न ही 'ना'। तब दाते साहब ने फिर कहा—'अच्छा सारी संपत्ति की बात जाने दो। तुम आज पाँच सेर दूध खरीद कर उसे गटर में बहा दो। क्या तुम ऐसा करने को तैयार हो?'

साधक: गटर में बहाने से क्या लाभ? इससे तो भूखे लोगों को पिलाना ही अच्छा रहेगा।

दाते साहब: तुम भूखों की चिंता छोड़ो। उनकी देखभाल करने में देव समर्थ हैं। तुम अपनी कहो। तुम पाँच सेर दूध गटर में बहा सकते हो क्या?

साधक: बहाने को तो बहा देंगे, परन्तु यह तो मूर्खता होगी।

दाते साहब: अरे, बाबा अपनी इस समझदारी को कुछ क्षणों के लिए तो छोड़ो। दूसरों को देने में तुम्हें 'दाता' होने का अहंकार आयेगा, परन्तु गटर में बहा देने से मूर्खता के लेबल के कारण न तो अहंकार आयेगा और न ऐसे करने से लोभ ही होगा। जब अहंकार और लोभ नहीं रहेगा तो परमार्थ में उन्नति निश्चित है ही। ऐसा करने को कौन तैयार है? जो कोई ऐसा करे उसे मुझे जरूर बताना चाहिए।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है किसी ने भी न तो पाँच सेर दूध गटर में बहाया और न ही ऐसी कोई सूचना दाते साहब को किसी ने दी।

(9)
अहंकार छोड़ कर प्रपंच और परमार्थ साधो

परमार्थ के लिए नेम (नाम-स्मरण), भजन, पोथी-वाचन आदि को दाते साहब महत्त्व देते ही थे, परन्तु व्यावहारिक जीवन में भी कर्त्तव्य परायणता और कार्यकुशलता को कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझते थे। उनका कहना था कि जो कार्य-क्षेत्र परमेश्वर ने आपको उदरभरणार्थ दिया है उसे सच्चाई और ईमानदारी से, दक्षता व तत्परता से करना चाहिए। उसमें शिथिलता और उपेक्षा और वह भी परमार्थ को बहाना बनाकर करना सर्वथा अनुचित है।

एक बार एक साधक ने दाते साहब को कहा—'मेरा उच्च अधिकारी मुझे उस समय बुलाता है जो समय मैंने नेम (नाम-स्मरण) के लिए नियत किया हुआ है। कई बार मैं उसकी इस आज्ञा का पालन इसी कारण नहीं कर सकता। फलस्वरूप वह मुझसे नाराज हो गया है और मुझे कई प्रकार से कष्ट देना शुरु कर दिया है। ऐसी स्थिति में अब मैं क्या करूँ?'

दाते साहब: नेम (नाम-स्मरण) का समय तुम बदल दो। दिन में समय नहीं मिले तो रात्रि में नाम-स्मरण करो। रात का समय खूब लम्बा है और तुम जितना चाहो उतना नाम-स्मरण कर सकते हो।

साधक: परन्तु यह तो अन्याय के सामने झुकना हो जाएगा और ऐसा मैं कदापि नहीं कर सकता।

दाते साहब: न्याय और अन्याय की मीमांसा न करो तो अच्छा है। जिस कार्य के लिए तुम वेतन लेते हो उसे पूर्ण कुशलता से करना तुम्हारा कर्तव्य है। परन्तु जो कुछ तुम कह रहे हो उसमें कितना तुम्हारा अहंकार बोल रहा है और कितनी तुम्हारी नेम (नाम-स्मरण) के लिए निष्ठा यह तुम स्वयं नहीं जानते। अतः अपना आचरण बदलो, अपने नम्र व्यवहार से अपने अधिकारियों को प्रसन्न करो और यह कार्य परमेश्वर द्वारा सौंपा गया कार्य है ऐसा मानकर उसे अपनी पूरी शक्ति से कुशलतापूर्वक करो।

साधक: इससे तो उसको अपनी दुष्टता में ही प्रोत्साहन मिलेगा और वह अधिक ही अन्याय करेगा।

दाते साहब ने उसके हठ के पीछे जो भाव था उसे समझ लिया और कहा तब ठीक है, ऐसे ही करते रहो जैसे अब तक करते आए हो और जो कुछ कष्ट व पीड़ा वह (अधिकारी) तुम्हें दे उसे ईश्वर के नाम पर सहन करते जाओ—Suffer in the name of God। तब न तो कोई शिकायत ही करो और न यह आशा ही करो कि वह तुमसे प्रसन्न होगा और फिर देखो कि देव क्या करता है।

साधक निरुत्तर हो गया, परन्तु संतुष्ट नहीं। कभी-कभी हमारे हित की बात भी हमको विषवत् लगती है क्योंकि उससे हमारे अहंकार को चोट लगती है।

इसी प्रकार एक बार एक अन्य साधक रामनवमी के कार्यक्रम में कुछ एक घंटों के लिए उपस्थित होने के लिए अपने कार्यालय से वहाँ (दाते साहब के घर) आया। उसे देखते ही दाते साहब ने पूछा—'अरे, तुम अभी कैसे आ गए? कार्यालय नहीं गए क्या?'

साधक: कार्यालय में अभी कुछ विशेष काम नहीं था और इसीलिए मैं दो-तीन घंटों के लिए बीच में चला आया। यहाँ से फिर कार्यालय चला जाऊंगा।

दाते साहब: छुट्टी ली है क्या?

साधक: नहीं तो, इसकी आवश्यकता ही नहीं थी।

दाते साहब: अभी वापस जाइये। या तो छुट्टी लेकर आइये या कार्यालय में अपना कार्य करिए। यहाँ इस प्रकार आना उचित नहीं।

उस साधक के चले जाने पर दाते साहब ने उपस्थित साधक मंडली से कहा—'अरे, जो व्यवहारिक जीवन में अपनी ड्यूटी पूरी सच्चाई से नहीं कर सकता वो परमार्थ में अपनी ड्यूटी कैसे करेगा? परमार्थ को बहाना बनाकर अपने कर्तव्य से जो मुख मोड़ता है उससे

ईश्वर कैसे प्रसन्न हो सकता है? जो व्यवहार में अपनी ड्यूटी सच्चाई से करता है उसकी ही परमार्थ में भी ड्यूटी करने की संभावना रहती है।'

(10)
अहंकार और स्मृति

दाते साहब ने एक बार अपने शिष्य को साबुन की टिकिया लाने को कहा। वे 'चन्दन केक्स' का ही प्रयोग करते थे। उस दिन संयोगवश उस शिष्य को कई दुकानों पर पूछताछ करने के उपरान्त भी केक्स कहीं भी मिले नहीं। एक दुकान पर चन्दन बार (bars) उपलब्ध थे। शिष्य ने सोचा साबुन चन्दन ब्रांड तो है ही फिर बार (bars) हैं या केक्स (cakes) इससे क्या अंतर पड़ने वाला है। यह सोचकर वह चन्दन बार खरीद लाया। दाते साहब ने जब केक्स के स्थान पर बार देखे तो झुंझला गए। कहा—तुमको केक्स लाने को कहा था, बार क्यों लाये? 'केक्स किसी भी दुकान पर मिले नहीं इसीलिए बार ले आया। साबुन चन्दन ब्रांड ही है', शिष्य ने कहा। 'वास्तव में तुमने ठीक से पूछताछ कर ढूँढने का प्रयत्न किया ही नहीं, जो मिल गया वही उठा लाये। दूसरों के भरोसे हैं इसलिए हमारा काम ऐसे ही होता है', दाते साहब ने कहा।

इसी प्रकार उन्होंने शिष्य को उसकी लापरवाही के लिए काफी डांटा-फटकारा। शिष्य का मन भी खिन्न हो गया। उसे लगा उसकी समस्त सावधानी के उपरांत भी उसे केवल डांटा ही जा रहा है। परन्तु

समय के साथ यह बात भी आई-गई हो गई। तभी एक दिन दाते साहब ने उस शिष्य से कहा—'मालती बाई (मिसेज दाते) कहती है कि तुमने बार लाकर अच्छा किया। बार में नुकसान (wastage) कम होता है। जितना साबुन चाहिए उतना बार में से काट कर बाई (maid-servant) को दिया जा सकता है। केक्स से बार ही अच्छे रहते हैं।'

फिर इसके ही कुछ दिन बाद दाते साहब ने उसी शिष्य को चंदन ब्रांड बार लाने को कहा। इस बार जब शिष्य बाजार गया तो पहली दुकान पर ही केक्स मिल गई। शिष्य को अपनी पिछली बार की भूल और उसके कारण पड़ी डांट-फटकार का स्मरण हो आया। उसने तत्काल केक्स खरीद ली और घर आ गया। दाते साहब ने केक्स देखी तो फिर नाराज हो गए, और कहा—'तुम को केक्स लाने को कहते हैं तो बार्स लाता है और बार्स लाने को कहते हैं तो केक्स लाता है।'

शिष्य ने कहा—'पिछली बार जब मैं केक्स नहीं ला सका तो आप बहुत नाराज हुए थे इसलिए इस बार जब 'केक्स' मिल गई तो मैं केक्स ले आया।'

दाते साहब ने आश्चर्य से उस शिष्य की ओर देखा और कहा—'महीने भर पहले तुम को डांटा-फटकारा वह तो तुमको याद रह गया और चार दिन पहले ही बार्स लाने के लिए तुम्हारी प्रशंसा की उसको तुम भूल गए।'

शिष्य क्या उत्तर देता, उसने अपना सिर नीचा कर लिया। अब उसको समझ में आया कि महीने भर पहिले कहे गये शब्दों से उसका अभिमान आहत हुआ था और इसी आहत अभिमान की कटु स्मृति ने उसे उस कार्य के लिए की गई प्रशंसा का विस्मरण करा दिया। हम क्या याद रखते हैं और क्या भूल जाते हैं इसमें हमारे 'अहम्' भाव का महत्त्व भी कम नहीं है।

(11)
सूक्ष्म का अर्थ

एक बार रविवारीय कार्यक्रम में समर्थ रामदासकृत् दासबोध का निरूपण करते समय स्थूल-सूक्ष्म की चर्चा चल पड़ी। वैसे स्थूल क्या है और सूक्ष्म क्या है सभी जानते हैं, परन्तु जब हम पंचभूतों में से किसी को स्थूल और किसी को सूक्ष्म कहते हैं तो हमारा ऐसा कहने में क्या आशय है यह हम को स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। दृष्टि में आना या नहीं आना सूक्ष्मता की पहचान नहीं हो सकता। जो दृष्टि में नहीं आए वह सूक्ष्म ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि स्थूल-सूक्ष्म का भेद दृष्टि में आने वाले पदार्थों में भी पाया जाता है। इसी कारण दाते साहब ने सूक्ष्म का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया।

सूक्ष्म वह है जो स्थूल को भेदकर उसके आर-पार हो जाता है और फिर भी स्थूल की व्यवस्था को न तो भंग ही करता है और न ही उसके आकार या रूप में परिवर्तन लाता है। उदाहरण के लिए जल

पृथ्वी से सूक्ष्म है क्योंकि जल पृथ्वी को भेदकर उसमें समा जाता है, उसके पार जाकर उसमें ही स्थित हो जाता है और फिर भी पृथ्वी की व्यवस्था में कोई अंतर नहीं आने देता । पृथ्वी वैसी ही पृथ्वी बनी रहती है। इसी प्रकार अग्नि जल से सूक्ष्म है। एक टॉर्च का प्रकाश सरोवर के जल में डालिए। वह प्रकाश जल की सतह तक, जल को चीरकर पहुँच जाता है, परन्तु जल की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आता, जल यथावत् बना रहता है। वायु अग्नि से भी सूक्ष्म है। अतः प्रज्वलित अग्नि के बीच से होकर वायु निकल जाता है परन्तु अग्नि को अग्नि रूप ही बना रहने देता है। आकाश वायु से भी सूक्ष्म है। ऐसी कोई भौतिक वस्तु नहीं जिसमें आकाश अवस्थित न हो और फिर भी उसके होने का पता नहीं चलता। इस प्रकार पृथ्वी से जल, जल से अग्नि, अग्नि से वायु और वायु से आकाश सूक्ष्म है ऐसा पता लग जाता है। सूक्ष्म में एक ओर पारदर्शिता का गुण होता है और दूसरी ओर अपने को स्थूल में घुसा कर उसी में छिपे रहने की क्षमता होती है। इस न्याय से आत्मन् या ब्रह्मन् सूक्ष्मतम सिद्ध होता है। उसकी तुलना में आकाश भी स्थूल है। ब्रह्म समस्त पंचभूतात्मक सृष्टि को भेदकर उसमें से आर-पार हो कर, उसमें ही स्थित रहता है, फिर भी इन्द्रियगोचर न होने के कारण उसके इस अस्तित्व का पता भूतनिर्मित-सृष्टि को लगता नहीं। परमार्थ में जो साधन-अभ्यास हैं वे सब इस प्रकार अन्दर छिपे गुप्त आत्मन् को बाहर निकाल कर, अपने आँखों के सामने लाकर देख सकने के लिए हैं। सद्गुरु कृपा से जब यह आत्मन् दृष्टिगोचर हो जाता है तब यह भी समझ में आ जाता है कि उसको सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्यों कहा जाता

है। इसी कारण आत्म-साक्षात्कारी पुरुष अपने सामने खड़े किसी भी व्यक्ति के मन में पैठ कर उसका रहस्य जान सकता है। वह चींटी का मनोगत भी समझने में समर्थ है। जिस प्रकार जल को भेदकर प्रकाश उसके तह तक पहुँच सकता है और फिर भी जल को कोई बाधा नहीं होती वैसे ही साक्षात्कारी संत किसी के भी मन में पैठ कर उसके अन्तरतम को प्रकाशित कर सकता है। जैसे अंजन आँखों में रहकर भी आँखों को कष्ट देता नहीं उल्टा उनकी शोभा बढ़ाता है और दृष्टि को निरोग बनाता है वैसे ही साक्षात्कारी पुरुष जो आत्मरूप ही हो गया है शिष्य के हृदय के कपाट खोल देता है, उसके जीवन को पवित्र और उच्च बना देता है और उसे जीवन सफल करने में समर्थ बनाता है।

(12)
ईश्वर को देखने के पश्चात् ही उससे प्रेम संभव

'ईश्वर से प्रेम करना चाहिए' यह सभी संत कहते आए हैं। उनका अनुसरण कर सामान्य लोग भी इसी भाषा में बात करते हैं, परन्तु ईश्वर से प्रेम करने से क्या तात्पर्य है और वह कैसे हो सकता है यह जानने का प्रयत्न वे नहीं करते। संत अपने अनुभव के आधार से कह सकते हैं, पर यह आधार अन्य साधारण लोगों के पास कहाँ है? ऐसे लोगों में न तो कहने वाला और न सुनने वाला ही ईश्वर से प्रेम करता है'। दाते साहब प्रायः कहा करते थे, 'जिसको देखा ही नहीं उससे कैसे

प्रेम किया जा सकता है? क्या हम किसी abstract idea से प्रेम कर सकते हैं?'

एक रविवार को परमार्थ-सोपान ग्रंथ में रैदास महाराज के एक पद में से—

तू मोहि देखे, मैं तोहि देखूं, प्रीति परस्पर होई।
तू मोहि देखे, मैं नहीं देखूं, यह सब मति खोई।।

पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—'ईश्वर से प्रेम करने की बातें करने से कुछ नहीं होगा, पहले ईश्वर को देखो, उनको देखने के पश्चात् ही उनसे प्रेम किया जा सकता है। यही नहीं, हमें यह जानना भी आवश्यक है कि जैसे हम ईश्वर को देखते हैं वैसे ही ईश्वर भी हम को देखता है और तभी ईश्वर और उसका भक्त, प्रेम से एक दूसरे से जुड़ सकते हैं। इससे पहले ईश्वर-प्रेम की बातें करना निरा प्रलाप है।'

जब तक ईश्वर-दर्शन नहीं हो तब तक क्या उससे प्रेम नहीं किया जा सकता, ऐसा प्रश्न पूछे जाने पर उन्होंने कहा—'हम जिसे प्रेम करते हैं उसका नाम लेने में भी रस और आनन्द आता है। क्या आपको ईश्वर का नाम लेते समय ऐसे आनन्द का अनुभव होता है? आप जब कोई उत्तम वस्तु खाने के लिए, पहनने या अन्य किसी प्रकार से उपयोग करने के लिए लाते हैं तब क्या आपको ईश्वर अथवा अपने गुरु का स्मरण होता है? सर्वोत्तम वस्तु गुरु या देव को अर्पण करने की इच्छा मन में आती है क्या? स्वादिष्ट भोजन कंठ में अटक कर रह जाता है

क्या? पूछिए यह सब प्रश्न अपने आप से और यदि उत्तर 'नहीं' मैं आता है तो पहले ऐसा करने का प्रयत्न कीजिए और तब प्रेम की निरर्थक बातें करना स्वतः ही बंद हो जायेंगी।'

इसी को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा—

'एक साधक ने अपने घर में शाक की फलियां लगायीं। जब उसकी फलियां जो बीस-पच्चीस से अधिक नहीं होंगी, उग आयीं तब अत्यन्त संकोच से उसने उनको अपने गुरु के चरणों में रखने की आज्ञा मांगी। गुरु ने उन्हें अत्यन्त प्रेम से स्वीकार किया। क्या इससे उस शिष्य का अपने गुरु के प्रति और गुरु का अपने शिष्य के प्रति प्रेम प्रकट नहीं होता? गुरु व देव तो आपका भाव देखते हैं, भाव नहीं तो ये सभी पदार्थ जो पैसा होने के कारण आप खरीद कर ला सकते हैं, महत्त्वहीन हैं।

फिर प्रेम तो केवल देना जानता है, लेने का भाव उसमें होता ही नहीं। आप चार आने की शक्कर भेंट कर लाखों की संपत्ति चाहते हैं और फिर भी कहते हैं कि हम ईश्वर को प्रेम करते हैं, क्या यह लज्जा की बात नहीं है? ईश्वर से प्रेम करना हो तो गुरु की शरण जाकर उनकी कृपा-संपादन करो जिससे ईश्वर-दर्शन संभव होगा और फिर अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु उनके चरणों पर अर्पण करो और तत्पश्चात् वे जो कुछ दें उसे कृपा-प्रसाद समझकर ग्रहण करो। इससे ही ईश्वर-प्रेम का आरम्भ होगा परन्तु याद रखो जब तक नाम-स्मरण बराबर नहीं होगा तब तक यह सब भी हो नहीं सकेगा।'

(13)
एकान्त का अर्थ

समर्थ स्वामी रामदास कृत दासबोध की ओवी 'शिष्या, एकांती बैसावे ----------' में 'एकान्त' का क्या अर्थ है, ऐसा एक बार दाते साहब ने पूछा। सभी ने 'एकान्त' से तात्पर्य निर्जन स्थान बताया, ऐसा स्थान जहाँ साधक के अतिरिक्त और कोई नहीं हो। तब दाते साहब ने पूछा—'कोई नहीं से क्या तात्पर्य? क्या वहाँ देव भी नहीं होना चाहिए? यदि देव है तो आप अकेले कहाँ रहे? आप और देव दो हो गए ना। तब एकान्त तो भंग हो गया।'

साधक: देव से तो एकान्त भंग होता नहीं। उसकी प्राप्ति के लिए ही तो एकान्त की आवश्यकता है। आप ही कहते हैं—One is company, two is a crowd.

दाते साहब: मैंने one is company कहा है क्योंकि देव भी वहाँ होता है और उसकी company रहती है। मैंने उसको एकान्त नहीं कहा है।

फिर उन्होंने 'एकान्त' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना शुरू किया। उन्होंने कहा, "साधन की प्रारंभिक अवस्था में एकान्त का अर्थ 'निर्जन स्थान' ही उचित है। ध्यान की एकाग्रता में बाधक भौतिक वस्तुओं व व्यक्तियों से दूर ऐसा स्थान जहाँ आपके अतिरिक्त और कोई नहीं

हो। तत्पश्चात् जब देव प्रकट हो जाए तब 'एकान्त' का अर्थ 'देव के अतिरिक्त कोई नहीं' ऐसा करना उचित होगा। परन्तु जैसे-जैसे नाम पर प्रेम और रूप में आसक्ति बढ़ती जाएगी वैसे-वैसे आप अपना देहभाव भूल कर अपने आपको देव के रूप में लुप्त कर दोगे। ऐसी अवस्था में एकान्त का अर्थ 'एक देव ही है' ऐसा किया जाएगा। 'एक' अर्थात् साधक का अन्त हो गया इसीलिए वह एकान्त हो गया। नाम-स्मरण के लिए आप अकेले बैठिये, परन्तु इस 'अकेले' का भी अन्त कर देवरूप बनकर देव का ध्यान करना श्रेष्ठ है। इसी स्थिति को Aristotle ने 'God contemplates upon himself' कहा है। परन्तु सच्चे अर्थों में एकान्त के लिए इससे भी आगे बढ़ना पड़ेगा। तब न भक्त रहेगा और न भगवान, केवल भक्तिसुख या अखंड शांति रहेगी; न ज्ञेय रहेगा न ज्ञाता, तब केवल अखण्ड ज्ञान रहेगा। यहाँ पहुँचकर वास्तविक 'एकान्त' प्राप्त होता है। यही मानव-जीवन की सार्थकता है, यही 'सायुज्यता' है।"

(14)
कौन किसको पकड़े—शिष्य गुरु को या गुरु शिष्य को

दाते साहब कई बार कहा करते थे—'यदि तुमने गुरु को पकड़ा है तो तुम उसे कभी भी छोड़ दोगे, परन्तु यदि गुरु ने तुमको पकड़ा है तो वह तुम्हें कभी भी नहीं छोड़ेगा और सदैव तुम्हें पथ-भ्रष्ट होने से

बचाता रहेगा।' इसका अनुभव उनके एक शिष्य के जीवन में आया जिसका वर्णन वह प्रायः इस प्रकार करता था।

बात सन् 1964 की है। मैं और मेरे पिताजी मेरे चाचाजी के निमंत्रण पर नागौर गए। गर्मी के दिन थे और स्कूलों की छुट्टियां थीं। मेरे चाचाजी के गुरु 'दयाल साहब' उन दिनों नागौर में ही विराजते थे। किसी उत्सव विशेष के कारण, बाहर से भी बहुत से लोग आए हुए थे। दूसरे दिन हम सब दयाल का प्रवचन सुनने के लिए गुरुद्वारे में गये। दयाल महाराज के प्रवचन का विषय था 'सुरत शब्द का मेल'। सुरत (Consciousness) किस प्रकार उर्ध्वगामी होकर शीर्ष स्थान तक पहुँचती है और फिर वहाँ शब्द (Word-God) में मिल कर उससे एक रूप हो जाती है। प्रवचन एक प्रकार से सम्पूर्ण परमार्थ का संक्षिप्त निरूपण ही था और मुझे भी वह बहुत प्रभावशाली और अच्छा लगा। प्रवचन समाप्त हो जाने के बाद मेरे चाचा जी ने मुझे और मेरे पिताजी को कहा—'मैंने दयाल से तुम्हारे लिए समय ले लिया है। जाओ और मिल आओ।'

मैंने कहा: मैं क्या करूंगा जाकर? मुझे तो कुछ पूछना है नहीं। पिताजी जाना चाहें तो चले जायें। मैं नहीं जाऊंगा। मुझे बहुत संकोच होता है।

चाचाजी: संकोच कैसा? दयाल तो अत्यन्त दयालु है। निःसंकोच जाओ। और फिर मैंने appointment ले लिया है, अब तुम नहीं जाओगे तो अनुचित होगा।

मेरे बहुत मना करने पर भी चाचाजी ने हम दोनों पिता-पुत्र को उस कमरे में ढ़केल दिया जहाँ महाराज बैठे थे। हम दोनों ने उनके चरणों में सिर रखकर नमस्कार किया और एक ओर खड़े हो गये। कुशल-क्षेम के एकाध प्रश्न पूछने के बाद दयाल महाराज ने कहा—'कहो, क्या कहना चाहते हो?'

अब मैं क्या करता? एक ओर तो मुझे कुछ पूछना ही नहीं था और दूसरी ओर ऐसा संतो से कहना भी उचित नहीं था। मैं इसी उधेड़बुन में था कि अकस्मात् एक विचार मेरे मस्तिष्क में कौंध गया। यह विचार अकस्मात् मेरे मन में कैसे आ गया इस पर भी विचार करने का समय नहीं था। मैंने तत्काल कहा—'आपका प्रवचन सुनकर अत्यन्त आनन्द हुआ। प्रवचन सारगर्भित और उद्बोधक था।'

दयाल ने कहा: तो फिर?

मैं तो इसके लिए तैयार ही था, मैंने कहा—"आपके अत्यन्त सुंदर प्रवचन सुनने के बाद भी मेरी 'सुरत' 'शब्द' में मिली नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि 'सुरत शब्द के मेल' के लिए प्रवचन पर्याप्त नहीं है, कुछ और करना पड़ता है। वह 'कुछ और' तो आपने बताया ही नहीं।" दयाल महाराज ने मेरी ओर गौर से देखा और कहा—"यहाँ दो-तीन सप्ताह ठहरो, अपने आप जान जाओगे।"

परन्तु मेरे मन में एक विचित्र अशान्ति का तूफान उठ रहा था जिसका कारण खोज कर भी मैं पा नहीं सका। न जाने क्यों अन्दर से

लग रहा था कि मैं यहाँ से जल्दी से जल्दी भाग जाऊं, परन्तु दयाल के प्रश्न का उत्तर दिए बिना ऐसा करना संभव नहीं था। मैंने कहा—'मुझे बी.एड. में भर्ती होना है। उसकी परीक्षा होने वाली है। अतः मेरे लिए इतने लम्बे समय तक ठहरना संभव नहीं होगा।'

दयाल: अच्छा दस दिन ठहरो और देखो क्या होता है?

मैं: तब तक परीक्षा शुरू हो जाएगी और मैं परीक्षा देने से वंचित रह जाऊंगा।

दयाल: अच्छा, छः-सात दिन तो ठहर सकते हो ना?

इस बार 'ना' कहने की हिम्मत नहीं हुई परन्तु मैंने 'हाँ' भी कहा नहीं। दयाल भी फिर कुछ बोले नहीं। महाराज को नमस्कार कर हम दोनों पिता-पुत्र बाहर आए। चाचाजी हमारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। उन्होंने हमें अन्दर जो कुछ हुआ वह सब बताने को कहा। मेरे मन का उद्वेग क्षण-क्षण बढ़ रहा था फिर भी मैंने अपने पर नियंत्रण रख कर सब कुछ उनको बता दिया। वे यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और कहा—'अब सप्ताह भर यहीं ठहरो और देखो कि दयाल का कैसा चमत्कारिक प्रभाव है।'

मैंने कहा: मुझे तो आज ही जोधपुर जाना है, अत्यन्त आवश्यक है। मैं कैसे ठहर सकता हूँ? पिताजी ठहर जायेंगे।

चाचाजी: नहीं, तुम नहीं जा सकते, तुम भी यहीं ठहरोगे।

मुझे याद नहीं कि मैंने तब तक कभी भी उनसे वाचालता की हो या उनको उलट कर उत्तर दिया हो, परन्तु उस दिन मैंने कहा—'आप कुछ भी कहिये, मैं तो आज ही जाऊंगा और वह भी अभी ही।'

चाचाजी: दयाल को सप्ताह भर ठहरने का कह कर आए हो, अब नहीं ठहरना अनुचित होगा। हठ मत करो, ठहर जाओ।

मैं: मैंने ऐसा कोई वायदा नहीं किया। मेरी चुप्पी का अर्थ यह भी लगाया जा सकता है, और नहीं भी। जो भी हो, मैं जाऊंगा अवश्य।

चाचाजी अत्यन्त अप्रसन्न हो गए, परन्तु मैं वहाँ से सीधा 'बस स्टेण्ड' पर चला आया। मन अभी भी वैसा ही अशान्त था, उद्वेग उसी प्रकार व्यथित कर रहा था। बस में बैठा और बस जोधपुर के लिए रवाना हो गई। आश्चर्य यह कि नागौर छोड़ने के पंद्रह-बीस मिनट बाद ही मन अपने आप शान्त हो गया जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो। पिछला सब उद्वेग और विवाद मुझे अपने मन की कमजोरी ही लगने लगा।

इस घटना ने मुझे विश्वास दिला दिया कि मेरे गुरु ने मुझे पकड़ा है और अब मैं अन्यत्र कहीं भी नहीं जा सकता। वे ही मेरा आश्रय स्थान हैं और वहीं मेरे जीवन की सफलता है।

(15)
नींद पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है?

दाते साहब के नेम (नाम-स्मरण) का समय प्रायः रात्रि का ही होता था। दिन में भी वे निश्चित समय पर नेम (नाम-स्मरण) को बैठते थे, परन्तु रात्रि का दीर्घकाल निद्रा में न खोकर वे उसे नाम-स्मरण में लगाया करते थे। ऐसा कई साधकों का अनुभव है कि दाते साहब सोते हुए दिखाई देते थे, परन्तु वास्तव में वे नींद नहीं लेते थे, लेटे-लेटे नाम-स्मरण ही करते थे। हममें से कई लोग यह जानते थे कि चौबीस घंटों में कुल मिलाकर दो घंटों से अधिक नींद वे कभी नहीं लेते थे। इसीको ध्यान में रखकर एक दिन उनके एक शिष्य ने उनसे पूछा—'आपने निद्रा पर यह विजय कैसे प्राप्त की?' प्रश्न उचित था या नहीं मैं नहीं कह सकता, परन्तु दाते साहब मुस्कुरा भर दिए और कहा—'बाबा नींद को मैंने कहाँ जीता है, नींद ने ही मुझको जीत लिया है। देखते नहीं मैं कितना सोता हूँ।' आगे कुछ और पूछने का उसे शायद साहस नहीं हुआ और बात वहीं समाप्त हो गई।

किंतु आश्चर्य की बात यह कि उस शिष्य को उसी रात एक स्वप्न आया। स्वप्न में वह और दाते साहब नेम (नाम-स्मरण) को बैठे थे। नाम-स्मरण समाप्ति पर दाते साहब ने स्वतः ही कहा—'देखो बाबा, शुरु-शुरु में मैं जल्दी सो जाता था और एक बार की नींद के बाद जब कभी मेरी आंख खुलती मैं नाम-स्मरण के लिए बैठ जाता था। प्रारंभ में

आधा घंटा बैठता था और फिर सो जाता था। दूसरी बार आँख खुलती तब भी ऐसा ही करता। इस प्रकार रात में पहले एक या दो बार उठता था, फिर कभी-कभी अधिक बार भी उठ जाता था; वैसे ही पहले एक घंटे तक नाम-स्मरण करने लगा, फिर यह अवधि बढ़ाता गया। इस प्रकार धीरे-धीरे मेरी नींद कम होती गई और नाम-स्मरण का अभ्यास बढ़ता गया।' तभी शिष्य की आँख खुल गई, वह तो आश्चर्य चकित रह गया। 'अरे, यह तो उस प्रश्न का उत्तर है जो मैंने दाते साहब से पूछा था', और यह सोच कर उसका मन प्रसन्नता से भर गया।

जब यह स्वप्न उसने दाते साहब को सुनाया तो वे बोले—'अरे बाबा, मैं तो यहाँ खाट पर लेटा था। तुम्हारे स्वप्न में कैसे आ सकता था? स्वयं देव (परमेश्वर) ने यह मेरा रूप लिया और निद्रा पर विजय प्राप्त करने का सरल मार्ग तुम्हें बताया है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि यदि तुम भी चाहो तो इसी प्रकार अभ्यास करके नींद पर विजय प्राप्त कर सकते हो।'

उस शिष्य ने ऐसा किया या नहीं कहा नहीं जा सकता, परन्तु निद्रा पर विजय प्राप्त करने का यह सरल मार्ग तो सबको ज्ञात हो ही गया।

(16)
चैतन्य सर्वत्र व्याप्त है

सन् 1959 की बात है। जून का महीना था और गर्मी अपने पूरे जोर पर थी। उन दिनों दाते साहब विष्णु भवन, उदय मन्दिर (जोधपुर) में रहते थे। उनके पास बोर्ड से जांचने के लिए कॉपियां आई हुई थीं। जब कॉपियां जांची जा चुकीं तब उनको बंडलों में बांधा जा रहा था। मैं दाते साहब की सहायता कर रहा था। जब बंडल बांधा जा चुका तो मैंने धागा पास में रखी उस टेबल की ओर फेंक दिया जिसपर रामभाऊ महाराज का चित्र रखा हुआ था। दाते साहब ने मेरी ओर देखा और कहा—'तुम इसे चित्र मात्र ही समझते हो क्या?' मैं क्या उत्तर देता, सिर नीचा कर लिया। उन्होंने कहा—'अरे बाबा, यह केवल चित्र ही नहीं है; ये स्वयं महाराज ही हैं ऐसा भाव रखकर वर्तन करना चाहिए।' उस समय मैं उनके कथन का गूढार्थ ठीक-ठीक समझ नहीं सका, परन्तु मैंने उसके बाद भी देखा कि यदि कोई साधक चित्र पर गंध, माला इत्यादि लगाते समय ऐसी ही असावधानी बरतता तो दाते साहब तत्काल उसे टोक देते।

बहुत समय बाद मुझे इसके मर्म का पता चला तब चला जब एक साधक ने मेरी उपस्थिति में उनसे कहा कि चित्र की ओर देखते समय चित्र के फ्रेम में ही महाराज के चैतन्य रूप के दर्शन उसे होते हैं। इतना ही नहीं फ्रेम के अन्दर का ही चित्र चैतन्य रूप धारण कर

अत्यन्त आकर्षक रूप से प्रकट होता है, वह हँसता, डोलता और मुस्कुराता भी है। कुछ समय पश्चात् फिर वह चित्र रूप हो कर रह जाता है। ऐसा ही अनुभव कुछ अन्य साधकों को भी आया। तब मुझे पता चला कि चैतन्य तो सर्वव्यापी है, महाराज का चित्र केवल चित्र है ऐसा समझना भूल है। वह तो चैतन्य गुरुमूर्ति ही है। इसके बाद अरविन्द महाराज, योगी कृष्ण प्रेम इत्यादि की पुस्तकों से भी इसकी पुष्टि हुई। दाते साहब के लिए तो चैतन्य सर्वत्र था ही, परन्तु यह बात शब्दों से कहने पर कौन मानता? ऐसे अनुभव जो सामान्य बुद्धि के लिए समझना कठिन होता था उसे वे इस प्रकार संकेतों द्वारा बताकर फिर अनुभव आने तक उन तथ्यों को साधक के विश्वास पर छोड़ देते थे। जब अनुभव में वह सत्य आ जाता है तब और किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहती।

(17)
ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है

'इस जगत् में अनीति ने नीति को दृष्टि से ओझल कर दिया है, असत्य ने सत्य को ढ़क लिया है और अज्ञान ने ज्ञान को तिरोहित कर दिया है—यदि यह सब सत्य है तो नीति, सत्य और ज्ञान का यह पराभव क्या उनकी निर्बलता प्रकट नहीं करता?', ऐसा प्रश्न एक साधक ने दाते साहब को पूछा।

दाते साहब ने कहा—

"ज्ञान का अभाव अज्ञान है, सत्य का अभाव असत्य है और नीति का अभाव ही अनीति है। 'अभाव' का अस्तित्व नहीं होता उसका आभास मात्र होता है और यह आभास भी 'भाव' के अस्तित्व पर निर्भर है। अतः व्यावहारिक जीवन में जो अनुभव होता है वह 'भाव' की अनुपस्थिति के कारण उत्पन्न आभास है।"

'यह सामान्य लोगों को समझ में कैसे आ सकता है? उनके लिए तो अनीति और असत्य की विजय प्रत्यक्ष अनुभव की बात है।'— साधक ने फिर पूछा।

'देखो, एक जन्मांध को सर्वत्र अन्धकार लगता है। उसके लिए अन्धकार सत्य और प्रकाश असत्य है। परन्तु जिसके नेत्र हैं वह जानता है कि अन्धकार कुछ नहीं है केवल प्रकाश का अभाव है। क्या कोई सूर्य को अन्धकार दिखा सकता है? उसके लिए अन्धकार शब्द ही अर्थहीन है।'

'एक अन्य उदाहरण देखो। सूर्य और बादलों का सम्बन्ध। बादलों का निर्माण ही सूर्य के ताप से होता है, परन्तु ये ही बादल सूर्य को आवृत्त कर लेते हैं और हम समझते हैं कि बादलों ने सूर्य को ढ़क लिया है और इससे उसका प्रकाश लुप्त हो गया है। परन्तु क्या वास्तव में ऐसा होता है? बादलों के उस पार सूर्य का प्रकाश यथावत् रहता है, वह वैसे ही प्रकाशित है जैसे पहले था। उसके प्रकाश में कोई न्यूनता नहीं आती। इतना ही नहीं यही सूर्य का तेज इन बादलों को

चीर कर पुनः उसी गौरव के साथ प्रकाशमान दिखाई देने लग जाता है। इस प्रकार कुछ क्षणों के लिए बुद्धि अज्ञान से आवृत्त होकर ज्ञान का विस्मरण कर सकती है, परन्तु बुद्धि का प्रकाश ज्ञान प्रदत्त है और कालान्तर में फिर सूर्य के समान ही ज्ञानाश्रित प्रकाशमान हो जाती है।'

'वास्तव में जिनका ज्ञान से साक्षात्कार हुआ ही नहीं वे उन जन्मांधों के समान हैं जिनको ज्ञान-सूर्य तो दिखता नहीं, केवल उसके ताप से उत्पन्न त्रास का ही अनुभव कर सकते हैं। अतः आवश्यक यह है कि आँखों में ऐसा अंजन लगाओ जिससे यह अंधत्व दूर होकर ज्ञान-सूर्य का दर्शन करना संभव हो सके। एक समर्थ गुरु की शरण में जाओ, उनसे नाम-मंत्र लो और तब तक रटते रहो जब तक ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण न हो जाए। तब अज्ञान का यह आवरण स्वत: ही हट जाएगा, उसके लिए और कोई प्रयत्न न तो उपयोगी हो सकता है और न ही उसकी आवश्यकता ही है।'

(18)
परमार्थ के लिए अपमान-मान समान

दाते साहब 63, जसवंत सराय, जोधपुर, में रहते थे। बात उस समय की है जब तुकाराम महाराज की अभंग-गाथा का अनुवाद-कार्य समाप्त हो चुका था और उसका पुनरावलोकन चल रहा था। एक दिन शाम के करीब पाँच बजे इलाहाबाद से श्री गुंठे व जोधपुर से भालू दादा, गुप्ताजी व अन्य एक दो महाराष्ट्रीय गृहस्थ दाते साहब से मिलने

आए। उस समय दाते साहब अभंग-गाथा पर ही कार्य कर रहे थे। वे बाहर आए और उस टेबल के पास बैठ गए जहाँ रामभाऊ महाराज का चित्र रखा हुआ था। आगन्तुक सज्जन उनके सामने बैठ गए। गुंठे साहब कोई उपालम्भ देने का मानस बना कर ही आये लगते थे और उन्होंने आते ही नाना प्रकार के उपालम्भों की बौछार करना शुरू कर दिया। उनका आशय यह था कि दाते साहब महाराष्ट्रीय समाज से कटे-कटे रहते हैं, उनकी उपेक्षा करते हैं और उनके उत्सवों आदि में भाग नहीं लेते हैं। दाते साहब सिर नीचा किए चुपचाप सुनते जा रहे थे। वे न कुछ बोले, न प्रतिवाद ही किया। उन्होंने गुंठे साहब को बोलने से रोका भी नहीं, यद्यपि वे जानते थे (और हम सब भी जानते थे) कि सभी आरोप अनुचित थे, वास्तव में उस समय तक किसी भी महाराष्ट्रीय गृहस्थ ने परमार्थ के लिए कोई रुचि नहीं दिखाई थी, जबकि दाते साहब के मकान के एक ओर भालू दादा व दूसरी ओर गुप्ता जी रहते थे जो दोनों ही महाराष्ट्रीय गृहस्थ थे। दाते साहब स्वयं भी इस बात के इच्छुक थे कि महाराष्ट्रीय परिवारों में भी गुरुदेव रामभाऊ महाराज के प्रति और परमार्थ-पथ के प्रति प्रेम उत्पन्न हो परन्तु ऐसा हुआ नहीं। दाते साहब का सम्बन्ध केवल पारमार्थिक जिज्ञासुओं व साधकों से ही होना संभव था।

थोड़ी देर बाद गुंठे साहब शान्त हुए, लगता था कि उनको भी अपने आरोपों के औचित्य पर संदेह होने लगा था क्योंकि वे रामभाऊ महाराज के निकट संपर्क में रह चुके थे। जब रामभाऊ महाराज

इलाहाबाद में विभागाध्यक्ष थे तब वे वहाँ रजिस्ट्रार थे। दाते साहब भी तब इलाहाबाद में ही थे। अस्तु, कुछ देर चुप रहकर गुंठे साहब ने दाते साहब से पूछा—'मैंने सुना है कि आपने तुकाराम महाराज के अभंगों का हिंदी अनुवाद किया है।' बस इतना सुनना था कि दाते साहब ने सिर ऊपर उठाया और कहा—'थांब, थांब' (ठहरिये, ठहरिये) और अन्दर से तुकाराम महाराज के अभंगों का अनुवाद लेकर आए। अब दाते साहब अनुवाद पढ़ रहे थे और गुंठे साहब मंत्र-मुग्ध से सुन रहे थे। ऐसा लगता था कि दोनों ही अभंगों के वाचन और श्रवण में तल्लीन हो गए थे। थोड़ी देर पूर्व का दुराग्रह न जाने कहाँ लुप्त हो गया था। अंत में वाचन की समाप्ति पर गुंठे साहब ने कहा—'धन्य है, आपकी वाणी प्रासादिक है। सुनकर अत्यन्त आनन्द हुआ।'

परन्तु तब भी वे क्या जान सके कि संत किस प्रकार अपमान सहन करके भी लोगों को परमार्थ की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

(19)
गुरु के लिए कृतज्ञता का भाव

वर्ष 1962, मास मई-जून का। रामभाऊ महाराज की पुण्य-तिथि का आयोजन दाते साहब के जयपुर स्थित निवास-स्थान पर चल रहा था। कई लोग बाहर से भी आए हुए थे। पुण्यतिथि की पूर्व संध्या को नेम (नाम-स्मरण) और भजन के पश्चात् विधि संकाय में रीडर डॉक्टर

आर. एल. वर्मा ने, जो रामभाऊ महाराज से अनुग्रहित थे, दाते साहब से पूछा—'यदि कल कुछ विशेष आयोजन हो तो मैं अपने बच्चों को भी साथ ले आऊं।' दाते साहब को यह प्रश्न शायद कुछ अच्छा नहीं लगा, परन्तु उन्होंने उत्तर दिया—'नाम-स्मरण से विशेष और आयोजन क्या हो सकता है? जैसा हमेशा होता है वैसा ही कार्यक्रम होगा, उसे विशेष कहिए चाहे तो सामान्य।'

दूसरे दिन पुण्य-तिथि का कार्यक्रम शुरू हुआ। दासबोध आदि के वाचन के पश्चात् दाते साहब ने सबको रामभाऊ महाराज के संस्मरण सुनाने को कहा। कुछ लोग रामभाऊ महाराज से व्यक्तिगत रूप से मिले थे, उन्होंने अपने अनुभव से व अन्य साधकों ने उनके विषय में जो सुना या पढ़ा था उसके आधार पर संस्मरण सुनाये। जब सब लोग कह चुके तब अन्त में सबने दाते साहब को अपने कुछ संस्मरण सुनाने को कहा। दाते साहब ने पहले तो आनाकानी की, परन्तु विशेष आग्रह करने पर कहना शुरू किया—'मैं रामभाऊ महाराज के विषय में क्या कहूँ? मेरा समस्त जीवन उनकी कृपा की ही कथा है, उनकी दया से ही मैं जो कुछ आज हूँ बन सका हूँ। आज भी उनकी ही कृपा से मेरा सब कुछ चल रहा है। मैं क्या था और क्या हो गया यह शब्दों द्वारा कैसे बताऊं?'

और उसके बाद एक-एक करके संस्मरणों की झड़ी लगा दी। उनके नेत्रों से अश्रु-धारा अविरल बहती जा रही थी और वे बोलते जा रहे थे। ऐसा लगता था कि उनको अन्य किसी की उपस्थिति का भान

ही नहीं था। वे सब कुछ अपने हृदय के अंतरतम से उंडेलते जा रहे थे। वातावरण भक्ति के रंग में रंग गया था। ऐसे भावुकता से भरे वातावरण में कौन पत्थर-हृदय अछूता रह सकता था? सभी उपस्थित साधकों के नेत्रों से भी इसी प्रकार अश्रु-धारा बह रही थी। दाते साहब भक्ति के भावातिरेक में गदगद कंठ से बोलते जा रहे थे और उपस्थित साधक भाव-प्रवाह में अनायास ही बहते जा रहे थे। कैसा अद्‌भुत प्रभाव था उस कृतज्ञतापूर्ण भावसबल भक्ति का।

जब उन्होंने संस्मरण सुनाने समाप्त किए तो जैसे सभी भाव समाधि से जाग गए हों ऐसा सबको लगा। कुछ देर पश्चात् जब वातावरण सामान्य होने लगा तब डॉ. वर्मा ने दाते साहब को कहा—'आपने मुझे कल बताया ही नहीं कि कार्यक्रम इतना अच्छा होगा। मुझे ऐसा पता होता तो मैं अपने बच्चों को भी लेकर आता।' दाते साहब पर कार्यक्रम की भाव-सबलता का अभी भी बहुत प्रभाव था अतः उन्होंने केवल इतना ही कहा—'स्वयं मुझे ही इसका पता कहाँ था।'

दूसरे दिन घूमने को जाते समय उन्होंने (दाते साहब) उनके साथ के साधकों से कहा—'डॉ. वर्मा का इस प्रकार उपालंभ देना क्या उचित था? महाराज की दया से जो हो गया उसका पूर्वानुमान कोई कैसे लगा सकता था? और फिर जिसे भक्ति करनी है उसे कार्यक्रम में आने से पहले कोई विशेष शर्तें लगानी चाहिए क्या? जिसका भाग्य होता है वही भक्ति का आनन्द व गुरुकृपा के प्रति कृतज्ञता का आदर कर सकता है।'

(20)
क्या वह चमत्कार था?

सन् 1961 की घटना है। दाते साहब के जयपुर स्थित निवास-स्थान पर रविवार का कार्यक्रम चल रहा था। स्वयं दाते साहब, मातुश्री मालतीबाई व्ही. दाते, सौ. विमल के अतिरिक्त पाँच व्यक्ति और थे। नेम (नाम-स्मरण) और दासबोध के निरूपण के पश्चात् परमार्थ-सोपान पढ़ने की बारी आई। दाते साहब ने हममें से एक को परमार्थ-सोपान पढ़ने को कहा। वह व्यक्ति कुछ देर तक चुप सा बैठा रहा, पुस्तक को देखता रहा। हमको आश्चर्य हुआ कि वह पढ़ना प्रारंभ क्यों नहीं करता है। तभी दाते साहब ने हँसते हुए कहा—'अरे बाबा, पढ़ते क्यों नहीं? इस प्रकार क्या देख रहे हो?' संकोच से वह बोला—'मुझे अक्षर साफ नहीं दिखते, लगता है प्रकाश कम है।' वास्तव में प्रकाश कम था ही नहीं। दाते साहब ने कहा—'अरे, अक्षर बड़े-बड़े (bold type) हैं, प्रकाश भी खूब है, फिर क्यों नहीं दिखता? अच्छा पास वाले व्यक्ति को पढ़ने को दे दो।' दूसरे व्यक्ति ने पुस्तक ली, पढ़ने का प्रयत्न भी किया, परन्तु व्यर्थ, वह भी नहीं पढ़ सका, उसे भी अक्षर साफ दिखाई नहीं दिए। इस प्रकार एक-एक करके हम पाँचों की यही दशा हुई। पुस्तक को कोई भी नहीं पढ़ सका। सबको कहना पड़ा कि अक्षर पढ़ने में नहीं आते। एक तरह से यह मानना पड़ा कि पर्याप्त प्रकाश और बड़े अक्षर होने के उपरान्त भी पुस्तक पढ़ी नहीं जा सकती। अन्त में पोथी माताजी ने मांगी। आश्चर्य कि उनको भी पुस्तक पढ़ने में सफलता नहीं

मिली। तब दाते साहब ने स्वयं पोथी पढ़ने के लिए हाथ बढ़ाया, परन्तु माताजी ने पोथी दी नहीं, कहा—'पढ़ते हैं' और कुछ क्षणों के बाद थोड़े से प्रयत्न से उन्होंने परमार्थ सोपान का सुस्वर वाचन स्पष्ट रीति से किया। तब दाते साहब ने हँसकर कहा—'अरे, सबकी आँखें खराब है क्या? डॉक्टर को दिखाओ बाबा।' हम क्या कहते, सभी सिर नीचा किए चुप थे। परन्तु सबके मन में एक ही बात घूम रही थी—क्या यह चमत्कार है?

(21)
वे वापिस क्यों चले गये?

घटना जोधपुर की है, तब दाते साहब 63, जसवंत सराय में रहते थे। एक बार श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी से एक संन्यासी दाते साहब के घर आये। उनको दाते साहब के विषय में किसने कहा होगा और किसने उनका घर बताया होगा यह ठीक-ठीक पता नहीं क्योंकि इस विषय पर उन्होंने फिर कभी चर्चा ही नहीं की। दाते साहब प्रायः गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासियों के प्रति आदर का व्यवहार करते थे और कहते थे कि यह आदर आद्य शंकराचार्य के प्रति है। अस्तु, वे उस गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासी को भी आदर सहित घर में लाये और एक सद्गृहस्थ के लिए एक संन्यासी का सत्कार जिस प्रकार करना योग्य है वैसा सत्कार भी किया। उन्होंने वार्तालाप के समय बताया कि वे कुछ समय तक जोधपुर में रहकर परमार्थ का प्रसार करेंगे और श्री

अरविन्द की शिक्षा व उनके द्वारा बताए गए साधन का मार्गदर्शन करेंगे। फिर संध्याकाल में जब दाते साहब व अन्य साधक नाम-स्मरण के लिए बैठे तब वे भी दाते साहब के पास ही नाम-स्मरण के लिए बैठ गए। नाम-स्मरण की अवधि समाप्त होने पर सबसे बड़ी आश्चर्य की बात यह हुई कि उन संन्यासी महोदय ने तत्काल ही जोधपुर छोड़ कर लौट जाने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा—'मैं कल ही जोधपुर छोड़कर पांडिचेरी जा रहा हूँ।' हम सबको आश्चर्य तो बहुत हुआ पर बोला कोई नहीं। तब दाते साहब ने ही हँसते हुए पूछा—'अपने निर्णय को, जोधपुर में ठहरकर परमार्थ-प्रसार करने की इच्छा को, इतना शीघ्र बदल देने की क्या आवश्यकता हुई?' परन्तु संन्यासी महोदय ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, केवल मुस्कुरा भर दिए। और दूसरे ही दिन वह सचमुच जोधपुर छोड़ कर चले गए।

बाद में दाते साहब को भी इसके बारे में पूछा परन्तु वे अपने सदैव के स्वभाव के अनुसार बोले—'मुझे ही क्या पता है? बाबा, कैसे कैसे विचित्र लोग होते हैं।' परन्तु हम लोग जानते थे कि यह प्रश्न को टालने का ही एक तरीका था।

(22)
अरे, इनको क्या हो गया?

दाते साहब के एक स्नेही एक दिन एक उच्च पदाधिकारी को उनके घर लाये। वे सज्जन परमार्थ में रुचि रखते थे, और पारमार्थिक

अनुभवों से अनभिज्ञ नहीं थे। वे शायद आनन्द-मार्गी थे। उस समय साधन मास चल रहा था और उन सज्जन ने भी उस दिन के कार्यक्रम में भाग लेने की अनुमति दाते साहब से प्राप्त कर ली थी। दाते साहब ने उनको अपने आसन के पीछे स्थित कमरे में अन्य लोगों के साथ नाम-स्मरण में बैठने को कहा। सभी लोग नाम-स्मरण में बैठे हुए थे। करीब पौन या एक घंटे के बाद एकाएक वे सज्जन जोर से चिल्ला उठे—'बाबा, बाबा'। उनकी आवाज से वे भयभीत से लगते थे। परन्तु वहाँ के नियमानुसार अन्य कोई साधक न तो कुछ बोला और न अपने स्थान से हिला ही। स्वयं दाते साहब भी यथावत् नाम-स्मरण करते रहे। थोड़ी ही देर में वे सज्जन शान्त व स्वस्थ हो गये और दूसरे लोगों की तरह नाम-स्मरण करते रहे। नाम-स्मरण के पश्चात् उन्होंने कहा कि उन्हें ऐसा पारमार्थिक अनुभव आया था जिसने उन्हें भयाक्रान्त कर दिया और वे अपने गुरु का नाम (बाबा, बाबा) लेकर चिल्लाने लगे थे। दाते साहब जब भी इस विषय पर चर्चा करते तो कहते—'इनके चिल्लाने से मैं तो घबरा ही गया था, सोचने लगा था कि इनको हो क्या गया है, मगर महाराज की दया से वे पूर्ववत स्वस्थ हो गए।' कभी-कभी वे यह भी कहते थे—'कुछ चमत्कार बताना भी पड़ता है, तब ही लोग मानते हैं।' परन्तु वह चमत्कार क्या था यह तो उन सज्जन को ही पता है। उन्होंने अपने मित्र को जो उन्हें दाते साहब के पास ले गए थे, कहा—'यह चमत्कारिक स्थान है। इसे छोड़ कर कहीं जाने की तुम्हें आवश्यकता नहीं।'

(23)
यह सेब चोरी का है?

चमत्कार करने की प्रवृत्ति को दाते साहब कभी उचित नहीं मानते थे और जब कभी उनके अपने कारण कुछ चमत्कार घटित हो जाता तो वे प्रायः कहा करते थे—'चमत्कार देव (ईश्वर) करता है, संत चमत्कारों से दूर ही रहते हैं।' एक बार रविवारीय कार्यक्रम में इस प्रकार चमत्कार के विषय में बोलते हुए उन्होंने एक मनोरंजक घटना सुनाई।

कुछ समय पूर्व जोधपुर में एक 'साधु' आए हुए थे। उनके चमत्कार करने की शक्ति से प्रभावित होकर अनेक लोग उनके पास एकत्रित होते थे। एक बार नगर के एक अत्यन्त लब्ध-प्रतिष्ठित चिकित्सक भी उनसे मिलने गए। कुछ देर के वार्तालाप के पश्चात् जब वे चिकित्सक वहाँ से विदा होने लगे तो उस साधु ने अपना हाथ अपने दाहिने कान और सिर की जटा के नीचे ले जाकर एकदम ताजा सेब न जाने कहाँ से प्रकट किया और वह सेब उस चिकित्सक महोदय को भेंट के रूप में दिया। चिकित्सक महाशय चकराए, यह सेब कहाँ से और किस प्रकार इस साधु के पास आ गया। सिर के पास सेब छिप सके ऐसा कोई स्थान नहीं था। वे दाते साहब के स्नेही थे, अतएव सीधे दाते साहब के पास आये। शिष्टाचार के वार्तालाप के पश्चात् उन्होंने वह सेब उनको भेंट में देना चाहा। दाते साहब ने पहले तो सहजभाव से उसे

लेना अस्वीकार कर दिया, परन्तु जब चिकित्सक महोदय ने अत्यन्त आग्रह किया तो उन्होंने पूछा—'क्या आप यह सेब मेरे लिए खरीद कर लाए हैं?'

चिकित्सक महोदय: नहीं, यह तो मुझे भेंट में मिला है और अब मैं आपको देना चाहता हूँ।

दाते साहब: यह भेंट आपको दी गई है तो आप रखिए, मुझे क्यों दे रहे हैं?

चिकित्सक महोदय: इसके पीछे एक रहस्य है और मैं उसके स्पष्टीकरण के लिए ही आपके पास आया हूँ।

दाते साहब: कौन सा और कैसा रहस्य?

चिकित्सक महोदय ने उनको, साधु से सेब किस प्रकार मिला, उसका सारा वृत्तांत सुनाया और फिर पूछा—'यह सेब इस प्रकार शून्य में से वह साधु कैसे ले आया?'

दाते साहब: यह सेब चोरी का है और इसीलिए मैंने उसे लेने से इंकार कर दिया था।

चिकित्सक महोदय: (और भी अधिक आश्चर्य से) चोरी? चोरी किसने की? कैसे की? वह साधु तो वहाँ से हिला तक नहीं, वहीं बैठा रहा, फिर चोरी कैसे की?

दाते साहब: यह प्रश्न जिस साधु ने आपको सेब दिया था उनको ही पूछना उचित होगा।

चिकित्सक महोदय: उनसे चोरी की बात कैसे कहूँ?

दाते साहब: उनसे यह पूछिए कि उन्होंने यह सेब पैदा किया है या वह पहले स्थित था और उसको वे लाये थे।

चिकित्सक महोदय फिर से उन साधु के पास गए और उनसे यही प्रश्न किया। अबकी बारी साधु के चकराने की थी।

साधु: यह प्रश्न तुम्हारा नहीं है, जिसका है, उससे जाकर कहना कि यह सेब पहले था और जहाँ था वहीं से हम लाए हैं। रही बात पैदा करने की, वह तो एक ईश्वर ही कर सकता है।

चिकित्सक महोदय: (साहसपूर्वक) क्या यह सेब चोरी का है?

साधु: तुम इसे चोरी का कहना चाहते हो तो कह सकते हो, परन्तु मैं इसे अपनी शक्ति से जहाँ कहीं वह था वहाँ से लाया हूँ।

चिकित्सक महोदय: आप यह कैसे ला सके? वह कौन सी शक्ति थी?

साधु: इस विषय में मैं तुमको कुछ भी नहीं बताऊंगा। इसका उत्तर तुमको वे ही देंगे जिन्होंने तुम्हें यह प्रश्न पूछने को कहा था।

अतएव वे चिकित्सक महोदय फिर दाते साहब के पास आए, वहाँ का पूरा वृत्तांत सुनाया और फिर पूछा—'वे साधु यह सेब कहाँ से और कैसे ले आए?'

दाते साहब: उस महात्मा के एक प्रेत सिद्ध किया हुआ है। प्रेतों की शक्ति अतुलनीय है। जिस बगीचे में वह सेब उग रहा था वहीं से वह प्रेत साधु की आज्ञा से परन्तु बिना उसके स्वामी की स्वीकृति के लाया था और यही कारण था कि मैंने उसे 'चोरी से लाया हुआ सेब' कहा था। वास्तव में सृष्टि निर्माण तो स्वयं ईश्वर के अतिरिक्त और कोई कर ही नहीं सकता।

चिकित्सक महोदय: क्या प्रेत होते हैं? क्या वे कहीं से कोई भी वस्तु इस प्रकार ला सकते हैं?

दाते साहब: महाशय, ईश्वर की यह सृष्टि ना जाने कितने अज्ञात जीवों से भरी पड़ी है। परन्तु एक सच्चा भक्त स्वयं देव को प्राप्त करना चाहता है और इसीलिए गुरु से प्राप्त नाम को रटते हुए इस सृष्टि में जो हो रहा है वह निर्लिप्त भाव से देखता है। परन्तु यह साधु कहलाने वाले लोग देव को नहीं, देव की शक्ति को चाहते हैं और लोगों को प्रभावित करने के लिए चमत्कार करते हैं, परन्तु यह शक्ति भी उनके नश्वर देह की ही तरह नष्ट हो जाएगी। एक देव व देव का नाम अजर-अमर है। क्या सेब की चिंता छोड़कर देव का चिंतन करना योग्य नहीं है?

(24)
क्या वह एक निरी भूल थी?

एक बार दाते साहब के एक स्नेही उनके पास जयपुर में सपत्नीक आए हुए थे। वैसे वे रामभाऊ महाराज से अनुग्रहित थे, परन्तु परमार्थ से उनका परिचय दाते साहब के संपर्क में आने के बाद ही हुआ था और दाते साहब के कारण ही उनको रामभाऊ महाराज से नाम-मंत्र मिला था। अतः वे उस समय दाते साहब का गुरु-तुल्य ही आदर करते थे। जब उनकी छुट्टी समाप्त होने को आई तो उन्होंने दाते साहब से विदा होने की आज्ञा मांगी। दाते साहब चाहते थे कि वे एक-दो दिन और रुकें और इसी कारण उन्होंने कहा—'जल्दी क्या है? कल या परसों चले जाना।'

सज्जन: मेरी छुट्टी समाप्त हो रही है, अतः मुझे आज ही जाना चाहिए।

दाते साहब: अरे बाबा, छुट्टी तो बढ़ाई जा सकती है, तार दे दो और दो दिन रुक कर चले जाना।

परन्तु उस सज्जन को यह बात रुचि नहीं और जाने के लिए विशेष आग्रह करने लगे। विवश होकर दाते साहब ने उनको जाने की सहमति दे दी।

दोनों पति-पत्नी स्टेशन पहुँचे, गंतव्य स्थान के टिकट खरीदे और क्योंकि रात का समय था इसलिए गाड़ी में सो गए। दूसरे दिन

प्रातःकाल उठने पर खिड़की से मुंह निकाला तो देखा कि गाड़ी किसी अपरिचित स्टेशन पर रुकी हुई थी। उनको संदेह हुआ और गाड़ी से नीचे उतर कर पूछताछ की तो मालूम हुआ कि गाड़ी किसी अन्य स्थान को जाने वाली थी। भूल से रात के समय वे अपने गंतव्य स्थान को जाने वाली गाड़ी के स्थान पर दूसरी लाइन की गाड़ी में बैठ गये थे। अब तो वे सज्जन बहुत हड़बड़ाये, कुछ घबराये भी। अपनी भूल और मूर्खता पर पश्चाताप भी हुआ परन्तु उससे क्या लाभ? शीघ्रता से अपनी पत्नी को व सामान को उसी स्टेशन पर उतारा और इसी बीच जिस गाड़ी से वह आए थे वह भी चल दी। स्टेशन मास्टर से पूछताछ करने पर पता चला कि अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचने के लिए उन्हें फिर से जयपुर जाना पड़ेगा। जयपुर को जाने वाली गाड़ी रात को आने वाली थी। अब विचित्र असमंजस की स्थिति हो गई। वहाँ उस स्टेशन पर दिन भर काटना कठिन लगने लगा और ड्यूटी पर पहुँचने में देर हो गई सो अलग। उधर जेब में पूरा पैसा भी नहीं था, रात को खरीदे गए टिकिट बेकार हो गए थे। किंतु संयोगवश स्टेशन मास्टर भला आदमी निकला, उसने इनकी इस कठिनाई को समझ कर एक मालगाड़ी में जयपुर तक पहुंचाने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार जयपुर तो पहुँच गये, परन्तु अपने गंतव्य स्थान तक कैसे पहुँचा जाये यह समस्या उत्पन्न हो गई। पहले का टिकिट बेकार हो गया था और दूसरा टिकिट खरीद सकें उतने पैसे पास में नहीं थे। हार कर अंत में स्टेशन से दाते साहब के घर पहुँचे।

उनको ऐसे आया देखकर दाते साहब ने आश्चर्य से कहा—'अरे बाबा, तुम अभी यहीं हो क्या? गये नहीं क्या? फिर तुमने रात कहाँ व्यतीत की? आखिर गये क्यों नहीं?'

उस सज्जन का सिर लज्जा और ग्लानि से झुक गया। अत्यन्त संकोच से उन्होंने सारी आप-बीती सुनाई। गंतव्य स्थान तक पहुँचने के लिए जितने रुपयों की आवश्यकता थी वे लिए और फिर दिन की गाड़ी पकड़ने के लिए स्टेशन की ओर लौट पड़े।

दाते साहब कई बार यह वृत्तांत हँसते हुए मौज से सुनाया करते थे और कहते थे—'देखो ना बाबा, पति एम.ए. पास है, पत्नी बी.ए. पास; दोनों अच्छे पदों पर नियुक्त हैं, फिर भी ऐसी भूल कर बैठते हैं। कौनसी गाड़ी में बैठना है इतना तक पता नहीं लगा सकते।'

क्या यह निरी भूल थी या संतों के कथनानुसार न करने का प्रतिफल?

(२५)
क्या ऐसा होना संभव था?

डॉक्टर पाण्डे जोधपुर के महात्मा गांधी अस्पताल के अध्यक्ष और अत्यन्त प्रतिष्ठित शल्य चिकित्सक थे। वे मृदु-भाषी, शान्त और शिष्ट व्यवहार के लिए प्रसिद्ध थे। कहते हैं कि वे भारत के कुछ अत्यन्त

ख्याति प्राप्त शल्य चिकित्सकों (सर्जनों) में से एक थे, परन्तु गर्व उन को छू तक नहीं गया था। वे जब से दाते साहब के सम्पर्क में आए तब से उनकी परमार्थ के लिए आस्था और श्रद्धा भी होने लगी। स्वयं दाते साहब का उनके प्रति अपार प्रेम था और उनकी उपस्थिति में दाते साहब का उत्साह द्विगुणित हो जाता था। विधि का विधान कुछ ऐसा हुआ कि पाण्डे साहब का अकस्मात् देहावसान हो गया। दाते साहब पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा और इस दुःखद मृत्यु के पश्चात् वह शायद ही कभी खुलकर हँसते पाये गये थे।

दाते साहब सदैव घूमने जाते थे, प्रातःकाल भी और सायंकाल भी। एक बार इसी प्रकार घूमने जाते समय मार्ग में महात्मा गांधी अस्पताल के कार्यालय अधीक्षक मिल गये। दाते साहब को देखकर वे रुके और उनको नमस्कार किया। दाते साहब ने उनको कहा—'देखिए, जगत् का व्यवहार वैसे ही सामान्य रूप से चल रहा है, किसी को भी यह भान नहीं कि उनके बीच से एक हीरा उठ गया है। यह दुनिया ऐसी ही है।'

कार्यालय अधीक्षक: मुझे तो यह लगता ही नहीं कि वे चले गये हैं। वे कार्यालय में आकर उसी तरह कुर्सी पर बैठते हैं, मुझे पत्र dictate करवाते हैं, और आवश्यक निर्देश व हिदायतें भी देते हैं। मैं तो आज भी उनके ही साथ काम करता हूँ।

दाते साहब इस प्रकार की चमत्कारिक घटनाओं में कम ही विश्वास करते थे और अपने गुरु अंबुराव महाराज के शब्दों में कहते थे कि

अस्थि-मांस का जो मृत देह आग की लपटों को समर्पित हो चुका है वह वापस कैसे आ सकता है? परन्तु आज उन्होंने न तो कोई प्रतिवाद किया और न कुछ बोले ही; चुपचाप सुनते रहे। उनके मुख पर भावों का उतार-चढ़ाव स्पष्ट परिलक्षित होता था। जब कार्यालय अधीक्षक का बोलना समाप्त हुआ तब स्वयं दाते साहब ने धीरे से कहा—'वे मुझे भी दिखाई देते हैं।' और इतना कह कर वे चुपचाप आगे चल दिए।

कार्यालय अधीक्षक का वर्णन और दाते साहब का उत्तर दोनों रहस्य ही बने रहे क्योंकि दोनों अपने-अपने रास्ते आगे चल दिए, दोनों में से किसी ने किसी को कुछ नहीं पूछा और अन्य कोई दाते साहब को पूछने का साहस ही कैसे कर सकता था? स्वयं दाते साहब के कहने का तो आशय संभवतया यह था कि वे डॉक्टर पाण्डे का अस्थि-मांस युक्त देह नहीं, उसके आकार का ज्योतिर्मय रूप देखते थे। पारमार्थिक अनुभवों से थोड़ा बहुत भी जो परिचित है वह जानता है कि संत लोग एक व्यक्ति के आत्मरूप को वैसे ही देख सकते हैं जैसे स्वयं वह व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार होने पर देख सकेगा। परन्तु कार्यालय अधीक्षक के उस कथन को जिसमें पाण्डे साहब का आना-जाना, बातचीत करना, कार्यालय का काम देखना, पत्र dictate करवाना आदि सम्मिलित हैं, किस अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है? यदि स्वीकार-योग्य नहीं है तो दाते साहब ने उसका प्रतिवाद क्यों नहीं किया?

आज भी यह पूछा जा सकता है, 'क्या ऐसा होना संभव है?'

(26)
दान कैसा और किसको देना चाहिए?

संतों को ऊपर-ऊपर से देखने पर उनके विषय में कई भ्रांतियां होना संभव है। अनेक बार उनका बाह्य व्यवहार उनके अंतरंग से भिन्न प्रतीत होता है और जब तक उनको निकट से सावधानी पूर्वक परन्तु श्रद्धायुक्त मन से नहीं देखें तब तक उनकी वास्तविकता का पता ही नहीं चलता। उनके व्यवहार में यह विरोधाभास ही उनके विषय में भ्रान्तियां उत्पन्न करता है।

दाते साहब के विषय में भी ऐसा कई बार होता था। हमने कई बार देखा था कि उनके घर पर यदि कोई भिखारी आता तो प्रायः वे उसे कुछ भी नहीं देते थे। सहज ही में कोई उनके विषय में सोच सकता था या कह सकता था कि उनके व्यवहार में दानशीलता का अभाव था, परन्तु वास्तविकता क्या है यह मैंने तब जाना जब मुझे उनके गुप्तदान का पता चला। महाराष्ट्र में स्थित ऐसे अनेक स्थान हैं जिनको संतों ने अपनी तपस्या से पवित्र व पुण्यस्थल बना दिया है। दाते साहब प्रतिमाह कुछ रुपए ऐसे तीर्थ-स्थानों को मनीऑर्डर द्वारा भेजते रहते थे। इसी प्रकार कुछ ऐसे लोग जिन्हें वे परमार्थ के लिए उपयुक्त समझते थे उनको सहायतारूप में वे कुछ भी दे सकते थे। स्टेडियम मैदान के सामने की एक छतरी में एक व्यक्ति जो भिखारी की तरह दिखता था, बैठा रहता था। दाते साहब कई बार स्वयं अपने

हाथ से उसे रोटी और शाक जो उसी समय ढ़ाबे से खरीदते थे लाकर देते थे। उसके ही सामने एक फल वाले ठेले के मालिक को उन्होंने कुछ रुपए दे रखे थे जो समय-समय पर उस छतरी में बैठे व्यक्ति को या दाते साहब द्वारा बताए गए अन्य व्यक्ति को फल देता रहता था। उस छतरी वाले व्यक्ति के बारे में पूछने पर दाते साहब ने कहा—'यह व्यक्ति चौबीसों घंटे यहीं एक ही स्थान पर बैठा रहता है वह किसकी शक्ति से?' उनका मत था कि ऐसे व्यक्ति जो परमार्थ-मार्ग पर हैं या परमार्थ के लिए उपयुक्त हैं उनको सहायता करना श्रेष्ठ दान है। वैसे वह सड़क पर बैठे लोगों की दीन दशा देख कर भी द्रवित हो जाते थे और उन्हें भी खाने के लिए कुछ न कुछ अवश्य ही देते रहते थे। भूखे को भोजन देना भी उत्तम दान है ऐसा भी प्रायः कहते थे।

उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे हमारी तरफ रूखी-सूखी या हम नहीं खा सकें वैसी रोटी या अन्य पदार्थ भिखारी को कभी नहीं देते थे। जैसी ताजा और बढ़िया भोजन की सामग्री वे स्वयं अपने काम में लेते थे वैसी ही उनको देते थे। इसीलिए वे उनके साथ घूमने को जाने वाले व्यक्ति को कहते थे—'देखो, कैसी रोटी है? कुत्ता भी नहीं खाता, सूंघकर छोड़ देता है। देना हो तो उत्तम खाद्य वस्तु दो, वरना दो ही मत। कौन बाध्य करने को आता है?' इसी प्रकार गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासी का वे 'शंकराचार्य का वेश' है मानकर आदर करते थे, शास्त्रोक्त विधि से भोजन-दक्षिणा आदि देते और कभी-कभी तो उनको आर्थिक सहायता भी करते। उनके निकट संपर्क में आए हुए

साधकों में से शायद ही कोई ऐसा होगा जिसे उन्होंने किसी न किसी रूप में सहायता न की हो। अनेक लोगों को उन्होंने अपने खर्चे से निंबाल भेजा और ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनके परिवार के भरण-पोषण का भार भी कुछ समय तक उन्होंने वहन किया था, परन्तु इन सबका पता वे किसी को भी नहीं लगने देते थे।

उनकी दानशीलता में न दिखावा था और न ही 'दे सकने की सामर्थ्य' का अभिमान। जो भी देना होता वे अत्यन्त उदारता से स्नेहपूर्वक देते थे और यह ध्यान रखते थे कि दी जाने वाली वस्तु 'खाने योग्य' हो और उसे प्राप्त करने वाला व्यक्ति सुपात्र अर्थात् या तो भूखा या परमार्थी हो। परन्तु वे बार-बार यह कहते थे कि सबसे महान दान और सबसे बड़ी मानव-सेवा अधिक से अधिक व्यक्तियों को परमेश्वर के मार्ग पर लगाना है। उससे श्रेष्ठ कोई दान नहीं और उससे बड़ी मानव-जाति की कोई अन्य सेवा नहीं।

(27)
परमार्थ के लिए

सन् 1960, माह मई। दाते साहब ने अपने एक शिष्य को निंबाल जाने के लिए कहा। उसकी इच्छा उस समय निंबाल जाने की नहीं थी। एक तो उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी और फिर वह निंबाल जाने के पारमार्थिक महत्त्व को भी नहीं समझता था अतः उसने निंबाल

जाने से स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा, 'भविष्य में जब भी अवसर मिलेगा तब जाऊंगा।'

दाते साहब: अभी क्यों नहीं जाते?

उसने कहा: मेरी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। निंबाल यात्रा पर खर्च करने का अर्थ घर की व्यवस्था में, दिन-प्रतिदिन के खर्चे में, कटौती करना होगा जिसके लिए गुंजायश ही नहीं है।

दाते साहब: ठीक है, कर्ज़ निकाल लो, फिर धीरे-धीरे चुका देना।

शिष्य: मेरे ऊपर पहले से ही काफी कर्ज़ है, मैं उसके बोझ को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता। और फिर मुझे कर्ज़ देगा ही कौन?

दाते साहब: तुम नहीं जानते कि एक बार का खोया हुआ अवसर फिर इतनी सरलता से नहीं मिलता। गया वो गया ही गया। तुम ऐसे करो कि कर्ज़ की चिंता छोड़कर निंबाल जाने की तैयारी करो, पैसा तुम्हें मैं दूंगा। जब तुम्हारी सुविधा हो तब लौटा देना।

वह शिष्य उनके इस आग्रह से और हृदय की विशालता देखकर अत्यन्त संकुचित हो गया, परन्तु उसकी चिंता यह हो गई कि जैसी आर्थिक स्थिति में वह था उसको देखते हुए यदि वह दाते साहब के पैसे समय पर नहीं लौटा पाया तो अत्यन्त निंदनीय बात हो जाएगी। अत्यन्त संकोच से उसने उनको यह सब कह दिया।

दाते साहब: अरे बाबा, कैसी बातें करते हो? तुम मेरे पैसे साल, दो साल, या जब भी तुम्हारी सुविधा हो तब लौटा देना। फिर भी अगर न लौटा सको तो मत लौटाना, परन्तु निंबाल जरूर जाओ। तुम्हें इस यात्रा के महत्त्व का पता ही नहीं है इसीलिए टालमटोल कर रहे हो।

वह निरुत्तर हो गया। उनकी इस उदारता और सौजन्यता ने उसे नतमस्तक कर दिया। उन्होंने रुपए दिए और वह निंबाल भी गया। यात्रा अत्यन्त सुखद और आनन्दप्रद रही और पारमार्थिक दृष्टि से भी वह लाभप्रद रही है ऐसा उसको उस समय भी अनुभव हुआ। आठ-दस दिन का यह प्रवास आनन्द और उत्साह से भरपूर रहा। आज तीस वर्ष के अंतराल के बाद भी उसे लगता है कि दाते साहब ने उसे निंबाल भेजकर कितना महद्उपकार किया था। और यही बात वह बार-बार कहता भी है। इस यात्रा ने ही उसके लिए परमार्थ का द्वार खोला था और उसके पश्चात् दाते साहब की कृपा और दया से उसे धीरे-धीरे, कालान्तर में उसके महत्त्व का पता भी चलने लगा।

निंबाल से लौटते ही उसे एक ट्यूशन मिल गया। वह कहता है कि तब तक उसके मन में न तो पैसे लौटाने की चिन्ता ही हुई थी और न ही उसने उसके लिए कोई प्रयत्न ही किया था। दाते साहब तब तक स्थानान्तरित होकर जयपुर जा चुके थे। वह प्रतिमास ट्यूशन से प्राप्त पैसा उनको मनीऑर्डर द्वारा भेजता रहा और इस प्रकार शीघ्र ही उनका कर्ज़ चुकता हो गया। परन्तु आश्चर्य यह है कि जैसे ही दाते साहब के पैसे चुकते हुए ऐसे ही वह ट्यूशन भी बंद हो गया। जिस

लड़के को वह पढ़ाता था वह इंदौर चला गया। तब उसकी समझ में आया कि किस प्रकार उनकी आज्ञा मानने से उसकी निंबाल-यात्रा अर्थात् परमार्थ का सूत्रपात हो गया और साथ ही जिस कर्ज़ को लेकर उसे इतनी व्यग्रता थी वह भी बिना किसी प्रयास के चुकता हो गया। यह भी कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है कि उसने ट्यूशन से प्राप्त एक पैसा भी अन्य कार्य में नहीं लगाया। उसे ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि सहज भाव से ईश्वरीय योजना से जो पैसा जिस काम के लिए उसे मिलता था उसी में लगाता रहा। वह अब भी कहता है कि नि:संदेह यह सब दाते साहब ने परमार्थ में उसकी रुचि उत्पन्न कर इस (गुरुगम्य) मार्ग पर लगाने के लिए ही किया। उसके जैसे अन्य कई लोग हैं जिनको उन्होंने अपने स्वयं के पैसे खर्च करके परमार्थ में लगाया। परमार्थ के लिए ऐसे तन-मन-धन कौन लगा सकता है?

(28)
कीर्ति तो अपने गुरु की ही होनी चाहिए

एक बार एक व्यक्ति ने दाते साहब के व्यक्तित्व के आकर्षण से और अध्यापन की उत्कृष्टता से प्रभावित होकर उनका चित्र (Portrait) बनाने की इच्छा प्रकट की। उस सज्जन के एक मित्र जो दाते साहब के अधिक निकट थे उसे दाते साहब के पास ले गए। उसने दाते साहब से कहा—'सर, मैं आपका चित्र बनाना चाहता हूँ। इसके लिए आप मुझे आपका कोई फोटो दीजिए।'

दाते साहब: मेरा चित्र बनाने से क्या लाभ? यदि तुम चित्र बनाना ही चाहते हो तो मैं तुम्हें एक महान संत का चित्र देता हूँ तुम उसे तैयार करो। जब मन प्रसन्न हो और कला की स्फूर्ति जागृत हो तभी यह चित्र बनाना।

ऐसा कह कर उन्होंने उस व्यक्ति को अपने गुरु श्री भाऊसाहब महाराज का चित्र दिया। उसने भी वह चित्र पूरी श्रद्धा से बनाया। चित्र इतना सुन्दर बना कि दाते साहब अत्यन्त प्रसन्न हो गए। उन्होंने वह चित्र रामभाऊ महाराज के पास भेजा। रामभाऊ महाराज ने चित्र को देखा तो गद्‌गद् हो गये, अपने गुरु के चित्र की आरती की और उसे पूजा अर्चना के लिए निंबाल आश्रम में रख दिया। कुछ वर्षों बाद स्वयं रामभाऊ महाराज ने वैसा ही एक और चित्र बनाने की आज्ञा दी और जब वह चित्र बनाकर उनके पास भेजा गया तो उसे वे इलाहाबाद में पूजा के लिए ले गए।

इस प्रकार दाते साहब ने स्वकीर्ति को एक ओर रखकर अपने गुरु की प्रसन्नता व उनकी कीर्ति को महत्त्व दिया। एक सच्चे गुरु-भक्त के लिए ऐसा करना ही उचित है। इधर उस सज्जन को रामभाऊ महाराज से अनुग्रह प्राप्त हुआ और वे परमार्थ पथ पर प्रगति करने लगे। इतना ही नहीं चित्रकला में भी निपुणता प्राप्त कर वे एक उच्च कोटि के कलाकार के रूप में अपने मित्रों में प्रसिद्ध हैं यद्यपि पर्याप्त अवसर और सहायता के अभाव में बाहर के लोग उनके बारे में बहुत कम जानते हैं।

इससे स्पष्ट हो जायेगा की दाते साहब ने कभी भी अपनी कीर्ति को महत्त्व नहीं दिया, उसके स्थान पर वे अपने गुरु की कीर्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहते थे। गुरु का गौरव हो, उनकी महत्ता प्रतिपादित हो और उनका ही गुणगान होता रहे ऐसी उनकी इच्छा सदैव रहती थी।

(29)
योगीराज का सद्भाव

इसी प्रसंग में एक अन्य घटना भी इतनी ही महत्त्वपूर्ण है। विश्वविद्यालय स्तर पर हिंदी विषय के व्याख्याता रहे एक सज्जन ज्योतिष, वैद्यक और शकुन शास्त्र के अतिरिक्त योग के भी अच्छे ज्ञाता थे। वे स्वभाव से विनम्र और वाणी से मृदुभाषी थे। अध्यात्म में भी उनकी रुचि थी। दाते साहब का उनके प्रति स्नेह था और वे दाते साहब का आदर करते थे। दाते साहब स्नेह से उन्हें 'योगीराज' कह कर पुकारते थे। उनको एक बार स्वप्न में उनके गुरु ने दाते साहब के पास जाने का और उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त करने का आदेश दिया। तद्नुसार वे दूसरे ही दिन सुगन्धित फूलों के हार लेकर दाते साहब के घर आए। दाते साहब को माला पहनाकर उनके प्रति अपना पूज्य भाव प्रकट करने की उनकी इच्छा थी और इसीलिए उन्होंने आते ही दाते साहब के गले में माला डालने का प्रयत्न किया, परन्तु दाते साहब ने तत्काल उनको रोक कर कहा—'आप यह क्या कर रहे हैं?'

योगीराज: मुझे मेरे गुरु की आज्ञा है, इसीलिए आपको माला पहना रहा हूँ। कृपया ऐसा करने की अनुमति दें।

दाते साहब: ये माला आप महाराज का फोटो जो आपके सामने रखा है उसको पहना दीजिये। बस, हो गया।

योगीराज: मैं तो आपको ही पहनाना चाहता हूँ। ऐसा ही करने की मेरे गुरु की मुझे आज्ञा है।

दाते साहब: आपके गुरु ने आपको मेरे पास भेजा है ना, तो फिर जो मैं कहूँ वह करिए। माला महाराज के गले में डालिए। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं कभी भी माला स्वीकार नहीं करूंगा। ऐसा करना मेरे लिए अनुचित होगा। ये तीनों (भाऊ साहब महाराज, अम्बुराव महाराज और रामभाऊ महाराज) पूर्ण ब्रह्म हैं, इनको माला पहनाने से आपके गुरु की आज्ञा का पालन ही होगा।

हार कर योगीराज ने माला महाराज के फोटो को पहनाई, उनको साष्टांग दंडवत किया और फिर दाते साहब से बातें करने लगे। दाते साहब अपनी तुलना अपने गुरु के साथ, अथवा अपना सम्मान उनके सामने (यद्यपि वह फोटो ही थे) कभी भी स्वीकार नहीं करते थे। ऐसी थी उनकी निरभिमानिता व गुरु-भक्ति।

(30)
संतों के वचनों का आधार अनुभव

प्रति वर्ष रामनवमी के उत्सव के अवसर पर रामचरितमानस के कुछ अंश पढ़े जाते थे और दाते साहब उनमें गर्भित अर्थ स्पष्ट करते थे। ऐसा ही एक प्रसंग शिव-सती का आया। एक बार शिव और सती भ्रमण करते हुए उसी मार्ग पर आ गए जिधर से सीता के वियोग में विलाप करते हुए श्रीराम जा रहे थे। शिव ने उनको प्रणाम किया परन्तु सती के मन में संदेह उत्पन्न हुआ कि पत्नी-वियोग में एक सामान्य व्यक्ति की भांति रुदन करने वाला 'राम' परब्रह्म कैसे हो सकता है? अतः उसने राम की परीक्षा लेने के लिए सीता का रूप धारण किया और राम के सम्मुख आ गयी। राम तो अन्तर्यामी थे, उन्होंने सती का मनोगत जान लिया और तब उन्होंने एक चमत्कार किया। सती को श्रीराम, लक्ष्मण और सीता सहित, सब ओर दिखाई देने लगे। सती को अपने आगे, पीछे, दायें, बायें, ऊपर, नीचे सब ओर यह त्रिमूर्ति दिखाई देने लगी। दाते साहब कहा करते थे, 'यह न तो कवि-कल्पना ही है और न ही पौराणिक कथा मात्र, सत्य यह है कि सती को रामरूप का, लक्ष्मण और सीता सहित vision हुआ था और सहस्त्रों वर्ष पश्चात् यही vision तुलसीदास जी को भी हुआ था। तुलसीदास जी ने सती के इस vision को उसी प्रकार देखा जिस प्रकार सहस्त्रों वर्ष पूर्व सती ने देखा था। साक्षात्कार-पथ पर ऐसे vision सहज और स्वाभाविक हैं।' फिर उन्होंने अपने इस कथन की पुष्टि में निम्नलिखित उदाहरण दिये।

ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है कि अर्जुन ने कृष्ण-रूप में स्वयं अपने को और कृष्ण को देखा; और ठीक उसी प्रकार कृष्ण ने, अर्जुन में स्वयं अपने को अर्जुन सहित देखा, और जैसे उन्होंने महाभारत काल में यह vision देखा था वैसे ही, ठीक उसी रूप में ज्ञानेश्वर महाराज ने यह vision अपने जीवन-काल में देखा। रानडे साहब कहते थे कि Christ के दाढ़ी थी, उनका बिना दाढ़ी का चित्र प्रामाणिक नहीं है। ऐसा वे कैसे कह सकते थे यदि उन्होंने Christ को vision में नहीं देखा होता? इसी प्रकार रानडे साहब को 'भृगु' ऋषि का vision हुआ और इस vision के साथ ही 'भृगु आळे' ऐसा उन्होंने स्पष्ट सुना। कबीर महाराज ने भी कहा है 'दस अवतार एक रत राजे' उन्होंने दसों अवतारों को एक ही राह में cinematographic film की तरह देखा। संतों के जीवन से ऐसे कई अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं जैसे St. Paul का दमासकस की सड़क पर 'दिव्य और प्रचंड ज्योति का दर्शन और साथ ही परिचयात्मक शब्द'।

कहने का आशय यह है कि साक्षात्कार-पथ पर संतों के इस प्रकार के अनुभव न तो कपोल कल्पना मात्र हैं और न ही मनगढ़ंत पौराणिक कथा मात्र। वे ऐसे अनुभव हैं जिन्होंने उन संतों के जीवन को पारमार्थिक पुष्टता और आनन्द प्रदान किया है। उनके वचनों का आधार उनके अपने अनुभव हैं।

(31)
मानव-जीवन का ध्येय—आत्म-साक्षात्कार

जो व्यक्ति विचारवान है उसे अवश्य सोचना चाहिए कि हमें यह मानव-जीवन किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राप्त हुआ है। इस विस्तृत जगत् में जिस प्रकार 'मैं' अपने ढंग का एक ही व्यक्ति हूँ, दूसरा कोई भी शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक दृष्टि से मेरे समान नहीं है ठीक उसी प्रकार मेरे जीवन का ध्येय भी अभूतपूर्व विलक्षण और अलौकिक ही होना चाहिए। परन्तु हम विश्वामित्र की भांति पंचभौतिक वस्तुओं में उलझे 'प्रतिसृष्टि' या वैज्ञानिक युग की नवीन सृष्टि के पीछे लगे हुए हैं और अपना मूलधर्म भुला बैठे हैं। दाते साहब यह बात कई बार कहते थे और उसका आशय नाना प्रकार से स्पष्ट किया करते थे। इसी प्रसंग में एक बार उन्होंने कहा—विश्वामित्र की भांति पंचभूतात्मक वस्तुओं की सृष्टि करने से क्या लाभ? हैं तो ये सभी नाशवन्त ही। गाय हो चाहे भैंस दोनों का मरण तो निश्चित है ही, ईश्वर की सृष्टि में 'गाय' थी तो विश्वामित्र ने 'भैंस' की सृष्टि की, 'पवन' ईश्वर की सृष्टि है तो 'पंखा' हम सृजन करते हैं। अरे, करना ही है तो कुछ ऐसी सृष्टि करो जो पंचभूतों की सीमा से परे हो। पारमार्थिक 'प्रतिसृष्टि' करो न? जैसे आप हैं वैसा ही अन्य रूप अपने सामने प्रकट होने दो; इस पंचभूतात्मक देह के ही सम्मुख आपका अपना चिन्मय, ज्योतिर्मय रूप लाकर खड़ा करो तो क्या वह 'प्रतिसृष्टि' नहीं होगी? अपने देह में से ही अपना आत्मरूप बाहर लाकर देखना, जो देह में गुप्तरूप से स्थित है उसको

देह से बाहर लाकर प्रकट करना इसी को हम 'पारमार्थिक प्रतिसृष्टि' कह सकते हैं और वही एक पंचभूतातीत अनश्वर और शाश्वत है। इस आत्मरूप के दर्शन करना, उससे ही एक रूप होना यही जीवन का अन्तिम व प्रमुख ध्येय है। इस आत्मरूप का दर्शन समस्त प्रकार के सौभाग्य का जन्म-स्थान है और इसीसे परमार्थ और प्रपंच दोनों ही क्षेत्रों में सफलता व कीर्ति प्राप्त होती है।

दाते साहब बार-बार कहते थे कि इस ध्येय की प्राप्ति साक्षात्कारी सद्‌गुरु से नाम लेकर नाम को निरंतर, अहोरात्र प्रेम और आदर से रटते रहने पर ही संभव है। अतएव बिना समय खोये हुए हमें सद्‌गुरु की शरण—निंबाल—जाना चाहिए।

(32)
आत्मा का गौरव करो, आपका गौरव स्वतः ही हो जायेगा।

एक बार एक गृहस्थ दाते साहब से मिलने आए और उन्होंने विस्तार से दाते साहब को बताना शुरू किया कि किस प्रकार उन्होंने अपनी योग्यता और कार्य-कुशलता से असंभव से लगने वाले कार्य संभव कर दिए थे। दाते साहब अपने स्वभाव के अनुसार उन्हें बीच-बीच में प्रोत्साहित करते रहते और इस प्रकार जब वे स्वकीर्ति करते-करते थक गए तब उनको चाय आदि देकर विदा किया। उन्होंने समझा

होगा कि दाते साहब उनसे बहुत प्रभावित हुए हैं, परन्तु उनके चले जाने के बाद उपस्थित मंडली को दाते साहब ने कहा—"यह व्यक्ति सज्जन प्रकृति का सद्गृहस्थ है, परन्तु इसे यह समझ में नहीं आता कि अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करके वह अपना और अपने द्वारा किए गए कार्य का महत्त्व कम कर रहा है। अरे, सकल कर्त्ता तो देव है, उसकी कृपा से ही सर्व कार्य संपन्न होते हैं तो फिर उसकी कीर्ति का ही गान करना चाहिए। संतों ने देव की स्तुति की, उसका गुणगान किया तो स्वयं संतों का गुणगान होने लगा। 'आत्मन्' ही वह देव है और आत्म-दर्शन का अर्थ अपने ही आकार का ज्योतिर्मय रूप देखना है—Dr. Date sees Dr. Date। जैसे दर्पण के सम्मुख खड़े होकर आप यदि अपने ललाट पर गंध लगाएंगे तो दर्पण में आपका जो प्रतिबिंब है उसको गंध स्वतः ही लग जाएगा। दर्पण में देखते समय आप बिंब हैं और दर्पण में दिखने वाला आपका रूप प्रतिबिंब है। इसी प्रकार आत्मदर्शन में आपके सामने का आत्मरूप बिंब है और आप उसका प्रतिबिंब। आप आत्मा का गौरव करो, उसका आदर करो, आपको भी प्रेम और आदर स्वतः ही प्राप्त हो जाएगा। वास्तव में आत्मा का दर्शन ही समस्त सौभाग्यों का जन्म-स्थान है और जो आत्मा का गौरव करता है उसको ही प्रपंच और परमार्थ दोनों में ही सफलता प्राप्त होती है और उसकी ही कीर्ति अक्षुण्ण रहती है। अतः एक साधक के लिए यही योग्य है कि वह गुरु-प्रदत्त नाम को रटते-रटते, उस आत्म-दर्शन की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करे जिससे बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है।"

(33)
कल्पना-नाश का उपाय—नाम-स्मरण

नाम-स्मरण के लिए जब एक साधक बैठता है तब नाना प्रकार की कल्पनाओं की बाढ़ सी आने लगती है और वह कई बार त्रस्त होकर बैठना ही छोड़ देता है। इसी को लक्ष्य में रखकर समय-समय पर दाते साहब साधकों के हित के लिए इस मन:स्थिति पर नियंत्रण पाने का उपाय बताते थे। वे बार-बार यह कहते थे की कल्पना पर विजय प्राप्त करने का एक ही उपाय है और वह है नाम-स्मरण। एक बार एक साधक ने उनसे पूछा—'जब केवल नाम-स्मरण ही कल्पना-नाश का एक मात्र उपाय है तो फिर नाम-स्मरण करते समय मरने के बजाय यह कल्पना अधिक शक्तिशाली कैसे हो जाती है?'

दाते साहब: कई बार हम काल्पनिक सुख के लिए नाम छोड़कर कल्पना के प्रवाह में बह जाते हैं और तब सहज ही नाम का विस्मरण हो जाता है। इसके विपरीत नाम को दृढ़ता से पकड़े रखो और कल्पना की उपेक्षा करते रहो तो शनै: - शनै: कल्पना का नाश होगा ही।

साधक: जब कल्पना का जोर बढ़ता है तो उसकी उपेक्षा करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

दाते साहब: कठिन होता है, असंभव नहीं। साधक को याद रखना होगा कि प्रत्येक नाम कैंची का काम करता है। नाम के पीछे नाम लेते रहने से उसके बीच जो कल्पना आएगी वह अवश्य नष्ट होकर रहेगी।

साधक: परन्तु कल्पनाओं से कभी-कभी मन इतना त्रस्त हो जाता है कि नाम-स्मरण करना भी संभव नहीं होता। ऐसी दशा में फिर कोई साधक क्या करे?

दाते साहब: अरे बाबा, मन के पीछे लगोगे तो नाम-स्मरण छूटेगा ही, और नाम छूटेगा तो कल्पना का जोर बढ़ेगा ही। इसीलिए दृढ़ निश्चय से, कल्पनाओं की परवाह किए बिना नाम पर ही ध्यान दोगे तो थोड़े समय में ही कल्पनाओं का आवेग रुकेगा, मन शान्त हो जाएगा और नाम का स्मरण भी उत्तम होगा।

साधक: कल्पनाओं का वेग नाम स्मरण के समय ही बढ़ता है, ऐसा क्यों?

दाते साहब: मन उस सरोवर के समान है जिसमें ऊपर का जल स्वच्छ दिखाई देता है परन्तु नीचे तले में कीचड़ जमा है। जैसे पत्थर डालने पर सरोवर का कीचड़ ऊपर आ जाता है वैसे ही नाम-स्मरण से मनरूपी सरोवर का कीचड़ ऊपर आ जाता है। तब उस कीचड़ को बाहर डालकर मन को स्वच्छ बनाया जा सकता है। जैसे सरोवर में पत्थर डालने पर कीचड़ ऊपर आता है तो दुर्गंध फैलती ही है वैसे

ही नाम-स्मरण से मन चंचल हो कर साधक को त्रस्त करता है। तब भी बिना घबराये नाम रटते रहो। कल्पनाओं का नाश इसीसे होगा।

(34)
लाख कोस जो गुरु बसे, दीजे सुरत पठाय

दाते साहब जब पहले पहल बेलगांव से जोधपुर आए थे तब उन के निकट संपर्क में आए हुए विद्यार्थियों में से एक राज्य कर्मचारी थे और उनका स्थानान्तरण एक स्थान से दूसरे स्थान पर होते रहने के कारण कितने ही वर्षों तक उनका संपर्क दाते साहब से हुआ नहीं। संयोगवश विश्वविद्यालय से सेवा-निवृत्त होने के पश्चात् दाते साहब जोधपुर में स्थायी रूप से रहने लगे और वे गृहस्थ भी सेवा-निवृत्त होकर जोधपुर लौट आए थे। वे एक दिन दाते साहब से मिलने आए और उनको लगा कि 22 - 23 वर्ष पूर्व के 'मास्टर साहब' अब वे मास्टर साहब नहीं रहे थे। वे स्वयं कहते थे कि 'मास्टर साहब' (वे दाते साहब को मास्टर साहब कहते थे) कुछ और ही हो गए थे। और तब उनकी पारमार्थिक श्रेष्ठता से आकर्षित होकर वे भी परमार्थ की ओर झुकने लगे और जैसे-जैसे उन्हें कुछ अधिक पता लगने लगा वैसे-वैसे उनकी दाते साहब के प्रति श्रद्धा भी बढ़ती गई।

एक बार ऐसा संयोग हुआ कि Sunday Programme के बाद वे जब दाते साहब को नमस्कार करने के लिए आगे आए तो दाते साहब ने अपने चरण पीछे खींच लिए। उन्होंने भूमि पर सिर टिका

कर नमस्कार किया और अपने घर चले गये, परन्तु लगता था कि उन्हें इससे पीड़ा हुई थी।

दूसरे दिन प्रातःकालीन भ्रमण के लिए जाते समय दाते साहब ने अपने साथ के व्यक्तियों से पूछा—"तुम 'अमुक व्यक्ति' (उसी गृहस्थ) का घर जानते हो क्या?"

'हाँ सर, हम जानते हैं। शहर के भीतरी भाग में है और कुछ दूर भी है।', साथ वाले व्यक्ति ने कहा।

'अच्छा तो हम आज उसी के घर चलेंगे', दाते साहब ने कहा।

बात आश्चर्य की ही थी; इतने सवेरे और वह भी इतनी दूर, शहर की भीड़-भाड़ के बीच (कारखाने व स्कूल जाते लोगों के कारण) वे वहाँ क्यों जाना चाहते हैं, परन्तु प्रतिवाद का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। सभी लोग उन सज्जन के घर पहुँचे। जैसे ही उन सज्जन को पता चला कि दाते साहब आ रहे हैं वैसे ही वे दौड़ कर बाहर आए और दाते साहब के चरणों से लिपट गये। दाते साहब का हृदय भी भर आया। भीतर जाकर बैठने के पश्चात् उन सज्जन ने कहा—'कल आपने मुझे आपके चरणों पर सिर रखकर नमस्कार नहीं करने दिया, चरण पीछे खींच लिए तो मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया। रात भर व्यग्र और अशान्त रहा, नींद भी नहीं आई, रोता रहा। मेरा क्या अपराध हो गया?'

दाते साहब ने उनके प्रश्न का उत्तर तो नहीं दिया, परन्तु कहने लगे—'मुझे भी न जाने क्यों ऐसा लगने लगा था कि मुझे तुमसे मिलने के लिए तुम्हारे घर जाना चाहिए। ये feeling रात को भी आती रही थी।'

तब साथ में आए लोगों को पता चला कि दाते साहब इतना आग्रह करके किस प्रयोजन से आए हैं। भक्त के हृदय की व्यथा ही उनको यहाँ खींच लाई थी। गुरु और शिष्य के बीच में यह कैसा अदृश्य सम्बन्ध है जो दिखाई न देते हुए भी दोनों को एक सूत्र में बांधे रखता है।

क्या दाते साहब उस गृहस्थ की मनोव्यथा को जानते थे? संभवतया हाँ। ऊपर से वे कुछ भी कहते रहें, आत्मिक सम्बन्ध से जुड़े लोगों को वे जिस सूत्र में बांध लेते थे उसका एक छोर तो वे स्वयं थे ही।

(35)
कमाई से पहले ही खर्च क्यों?

दाते साहब प्रायः कहा करते थे कि परमार्थ को वैसे ही गुप्त रखना चाहिए जैसे निम्बरगी महाराज रखा करते थे और उस दशा में ही परमार्थ में आशातीत प्रगति की आशा करनी चाहिए। इसी प्रसंग में एक रोचक घटना इस प्रकार है।

एक साधक प्रतिदिन छः-छः – सात-सात घंटे नेम करता था और दो-तीन घंटे भजन आदि में लगाता था। जिस मकान में वह किराए पर रहता था उसकी मालकिन उससे काफी प्रभावित थी। एक बार उस गृहिणी का भतीजा रोग-ग्रस्त हो गया। उपचार करने पर भी उसके स्वास्थ्य में कोई संतोषजनक सुधार नहीं हुआ। एक दिन वह गृहिणी अपने उस भतीजे को लेकर उस साधक के पास आई। जब वह साधक नेम से उठकर बाहर आया तो वह गृहिणी अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहने लगी कि इस बालक को 'झाड़-फूंक' करके ठीक कर दो। साधक ने उसे बहुत समझाया कि उसे 'झाड़-फूंक' करना नहीं आता और न ही उसका उसमें विश्वास ही है। परन्तु वह गृहिणी वहाँ से हटने को तैयार ही नहीं थी। हार कर वह साधक उस बच्चे के सामने बैठ गया और इस प्रकार नाम-स्मरण करने लगा कि उस स्त्री ने समझा कि वह 'झाड़-फूंक' कर रहा है। पांचेक मिनट ऐसा दिखावा करके उसने उनकी छुट्टी कर दी। आश्चर्य यह हुआ कि बच्चे की दशा में संतोषजनक सुधार होने लगा और वह गृहिणी दूसरे दिन फिर उस बच्चे को ले आई। अब तो साधक के पास 'ना' करने की भी गुंजायश नहीं थी। दो-चार दिन यह 'झाड-फूंक' का दिखावा इसी प्रकार चला और बच्चा ठीक हो गया। साधक ने सोचा, 'चलो, इसी बहाने नाम-स्मरण होता है, और गृहणी समझती कि उसका बच्चा ठीक हो रहा है' ।

उस साधक ने एक दिन यह सारी घटना दाते साहब को बता दी। दाते साहब ने खिन्न हो कर कहा—'यह क्या करना शुरू कर दिया

है? कमाई करने से पहले ही खर्च करना शुरू कर दिया है क्या? याद रखो, इस प्रकार तुम अपना परमार्थ डुबा के रहोगे। लोग अत्यन्त स्वार्थी होते हैं। वे चाहते हैं कि आप अपने अर्जित पुण्य का लाभ उनके संसार को व्यवस्थित करने में लगाते रहो। ऐसे लोगों से सदैव दूर रहना चाहिए। यहाँ भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो इसीलिए यहाँ आते हैं कि आपके पुण्य का लाभ उनको मिलता रहे। जो भक्ति करता है, नाम-स्मरण करता है उसके लिए देव स्वयं सहायक बन कर आता है। तुम को इस प्रकार का नाटक तत्काल बंद कर देना चाहिए।'

(36)
गुरु आज्ञा प्रतिपालन। हे मुख्य शिष्यांचे लक्षण।

एक साधक एक लम्बे समय तक दाते साहब के संपर्क में रहे थे और इसी कारण आत्म-साक्षात्कार के मार्ग व उसके महत्त्व के विषय में जानते थे। उन्होंने दाते साहब से सुना था कि आईदानजी महाराज एक साक्षात्कारी संत हैं। इसी आधार पर उन्होंने अपने पिता को आईदानजी महाराज के पास भेजा और उन्होंने वहाँ नाम-मंत्र भी ले लिया। उनके गुरु ने उनसे कहा—'तुम्हारी पूजा की सभी मूर्त्तियों की पोटली बांध कर कुएं में डाल दो।' ये गृहस्थ वर्षों से इन मूर्त्तियों की पूजा करते थे, अब उनकी अवहेलना, और वह भी अवज्ञा की सीमा तक, कर सकें उतना साहस वे जुटा नहीं पाए। दूसरी ओर गुरु की

आज्ञा न मानने के पातक का भी भय था। वे गृहस्थ एक अत्यन्त विषम स्थिति में फंस गए। अत्यन्त व्यथित और पीड़ित हो कर वे अंत में अपने पुत्र के साथ दाते साहब के पास आए। उन्होंने अपनी दुविधाजनक स्थिति बताई और उससे छुटकारा पाने का मार्ग पूछा। दाते साहब ने कहा—'यह सब गुरु के पास जाने से पूर्व सोचना चाहिए था। अब तो गुरु की आज्ञा को मानने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं।'

गृहस्थ: मैं उनके द्वारा दिए गए नाम का जप तो करता ही हूँ, फिर इन मूर्त्तियों को फेंकना क्यों आवश्यक है?

दाते साहब: यह आपके तय करने की बात नहीं है। गुरु ने आज्ञा दी है आपको उसका पालन करना चाहिए।

गृहस्थ: आपका मार्ग भी आत्म-साक्षात्कार का ही है, आप तो मूर्त्तियां फेंकने का नहीं कहते।

दाते साहब: अब ये तर्क निरर्थक है। गुरु-आज्ञा का पालन ही आपका एकमात्र कर्तव्य है।

गृहस्थ अनमना और दु:खी सा हो गया। दाते साहब का उनके पुत्र पर प्रेम था और इसीलिए उसके अनुनय-विनय करने पर दाते साहब ने कहा—'अच्छा आप निंबाल जाओ, वहाँ समाधि पर नाम लेओ और कम से कम तीन दिन वहाँ रहकर वहाँ के सभी कार्यक्रमों में भाग लेओ।'

गृहस्थ: मैंने आईदान जी महाराज से नाम लिया है। अब दूसरा नाम लूंगा तो गुरु-द्रोह नहीं हो जाएगा क्या?

दाते साहब: आपको जब गुरु की आज्ञा का पालन करने को कहते हैं तो इन मूर्त्तियों का मोह आपसे छूटता नहीं, और जब निंबाल जाने को कहते हैं तो गुरु-द्रोह का भय उत्पन्न होता है। ऐसी मानसिक स्थिति अच्छी नहीं। तुम निश्चिंत होकर निंबाल जाओ, गुरु-द्रोह का पातक मैं अपने ऊपर लेता हूँ।

इस प्रकार दाते साहब व उसके पुत्र के समझाने-बुझाने पर वह गृहस्थ निंबाल तो गया, परन्तु गुरु-द्रोह के भय से अथवा किसी अन्य कारण से नाम लिए बिना ही वापस आ गया।

इस घटना को लक्ष्य कर दाते साहब कई बार कहते थे—'हमारे सम्प्रदाय की यह विशेषता है कि हम किसी का विश्वास भंग नहीं करते, जो जहाँ है वहीं से उसे आगे बढ़ने का कहते हैं। गुरु-कृपा से जब उसको पारमार्थिक अनुभव आने लगते हैं तब स्वत: ही उसको पता चल जाता है कि क्या सत्य है और क्या मिथ्या, और तब वह मिथ्या को अपने आप छोड़ देता है।'

'परन्तु वस्तु-स्थिति कुछ भी हो गुरु की आज्ञा का पालन शिष्य का परम कर्तव्य है।' ऐसा न करने से ही उस गृहस्थ का समाधान भंग हुआ और वह न इधर का रहा न उधर का। अतएव या तो गुरु के पास

जाओ ही नहीं और जाओ तो इस तैयारी के साथ कि वे जो कुछ भी आज्ञा देंगे आप उसका बिना हिचकिचाहट पालन करेंगे।

(37)
क्षणिक उत्साह परमार्थ के लिए उपयोगी नहीं

दाते साहब ने जोधपुर विश्वविद्यालय के प्रांगण में गीता पर कुछ श्रृंखलाबद्ध भाषण दिए थे। गीता के प्रति उनके साक्षात्कारी दृष्टिकोण से एक सज्जन इतने प्रभावित हुए कि एक दिन वे एक अन्य साधक के साथ दाते साहब से मिलने के लिए उनके निवास-स्थान पर आ गए। परमार्थ-विषयक कुछ चर्चा के बाद उन्होंने दाते साहब को कहा— 'आप मुझे परमार्थ में दीक्षा दीजिए।'

दाते साहब: मैं तो किसी को नाम-मंत्र देता नहीं। यदि आप चाहें तो मैं आपको रास्ता बता सकता हूँ। निंबाल जाओ, कम से कम तीन दिन वहाँ रहो, समाधि पर नाम-मंत्र लेकर उसे प्रातः, मध्याह्न व सायंकाल रटो। मुझे आशा है तुम्हारी जिज्ञासा अवश्य शांत होगी। जाओगे क्या?

सज्जन: हाँ, हाँ साहब जरूर जाऊंगा।

दाते साहब: कब जा रहे हो? मुझसे मिलकर जाना अच्छा रहेगा।

सज्जन: कभी भी जा सकता हूँ। ये निंबाज कुछ दूर तो है नहीं।

दाते साहब: अरे, निंबाज नहीं, निंबाल। ये स्थान कर्नाटक में है।

सज्जन: इतनी दूर है क्या, साहब? तो फिर गर्मी की छुट्टियों में ही जाने की सोच सकता हूँ।

इसके बाद इधर उधर की बातें करके वे सज्जन चले गये, परन्तु न तो वे रविवार के कार्यक्रम में ही आये और न ही वे निंबाल ही गए। उसको लक्ष्य करके कुछ दिनों बाद दाते साहब ने कहा—'देख लिया न, ऐसा क्षणिक उत्साह किसी काम का नहीं। निंबाज नामक कोई स्थान निकट ही होगा, शायद उसके घर के पास ही हो; (सचमुच वह निंबाज के पास का ही रहने वाला था), सोचा, चलो लगे हाथों परमार्थ भी कर ही लें। निंबाल दूर है, एक हजार मील की यात्रा है। पैसा लगता है, आने-जाने में कष्ट होता है। हम पैसा खर्च करना चाहते नहीं, तनिक भी कष्ट उठाना चाहते नहीं, तो फिर परमार्थ कैसे हो सकता है? समाधान कैसे मिल सकता है?'

(38)
'तुलसी संगत साधु की कटे कोटि अपराध'

जनसाधारण में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि संतों के सान्निध्य में मन के उद्वेग शान्त हो जाते हैं, और देह के रोगों का शमन होता है, परन्तु जब तक मन उद्वेगों से आलोड़ित हुआ नहीं तब तक संतों के सहवास से शान्ति मिलती है ऐसा कहना अनुभवजन्य सत्य नहीं है।

बात सन् 1962-63 की है। दाते साहब के एक शिष्य को सारे शरीर में दाह (जलन) होने लगी और वह इतनी कष्टप्रद थी कि रात को नींद तक नहीं आती थी। उसी बीच उसको दाढ़ में भी पीड़ा होने लगी, जिसने उसके मस्तिष्क के स्नायु-तंत्रों तक में तनाव और पीड़ा उत्पन्न कर दी। दोनों का वेग बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ गया कि उसे एक क्षण भी चैन नहीं मिलता था। असह्य पीड़ा और अनिद्रा ने उसे विक्षिप्त सा बना दिया। एक ओर दाढ़ से मस्तिष्क के अन्दर कोई खींच सा रहा है ऐसी पीड़ा होती तो दूसरी ओर शरीर के दाह से सर्वांग काला और 'जली हुई वस्तु' के समान दिखने लगा। न दिन को चैन न रात को नींद। परन्तु आश्चर्य यह कि वह जब भी दाते साहब के पास होता तो न तो उसको दाढ़ की पीड़ा होती और न ही देह में जलन। मन शान्त रहता और देह 'स्वस्थ' परन्तु उसे यह भय सदा रहता कि यहाँ से जाते ही फिर से वही पीड़ा और जलन होने लगेगी।

अन्त में एक दिन उसने दाते साहब को यह सब विस्तार से बता दिया और अत्यन्त करुणा से उन्हें इस रोग से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना की। दाते साहब कुछ मुस्कुराये और बोले—'बाबा, डॉक्टर को दिखाओ, उपचार करवाओ। महाराज की दया से यह पीड़ा चली जाएगी।' उसने प्रत्युत्तर में यह नहीं कहा कि इलाज तो चल ही रहा है, लाभ कुछ होता नहीं। कुछ भी हो, इसके पश्चात् उसे कोई पीड़ा नहीं हुई और देह की जलन शान्त होकर वह शीतल हो गई।

कुछ समय पश्चात् एक रविवारीय कार्यक्रम में 'प्राशिले हालाहल शिवे दाह बहु झाला' पंक्ति का उल्लेख कर दाते साहब ने उस शिष्य से पूछा—'क्यों बाबा, शिव को दाह क्यों हुआ?' वह शिष्य उत्तर देता उसके पूर्व ही एक अन्य साधक ने कहा—'संसार रूपी विष के प्राशन से शिव को दाह उत्पन्न हुआ और रामनाम का स्मरण करने से वह दाह शान्त हो गया।' शिष्य भी यही उत्तर देने जा रहा था। उसे जिज्ञासा हुई कि क्या इस अन्य साधक को भी इसी प्रकार दाह हुआ था, यदि नहीं हुआ होता तो वह यह अनुभव पर आधारित उत्तर कैसे दे सका था। दाते साहब ने केवल यही कहा—'कोई-कोई साधक ही शिव के समान विष का पान कर रामनाम से उसका शमन कर सकते हैं।'

(39)
मांगना हो तो देव से मांगो

एक साधक अपना अनुभव इस प्रकार कहता है—'मैं सन् 1956-57 में एम.ए. दर्शनशास्त्र के प्रथम वर्ष में पढ़ता था। बी.ए. या इससे पूर्व दर्शन-शास्त्र मेरा विषय नहीं था और सर्वथा नवीन विषय होने के कारण मुझे काफी कठिनाई होती थी। मेरे अध्यापकों की सदाशयता और सहायता मुझे सदैव प्राप्त थी, परन्तु फिर भी बार-बार प्रत्येक समस्या लेकर उनके पास जाने में मुझे अत्यन्त संकोच होता था और विषय की जटिलता के कारण पुस्तकों से भी कई बार कोई विशेष लाभ नहीं होता था। तभी मुझे न जाने कैसे यह विचार आया कि

अध्ययन करते समय दाते साहब का चित्र मेरे पास रखकर अध्ययन करूँ तो मेरी कठिनाई का समाधान हो जाएगा। मैंने वैसे ही करना शुरु कर दिया। जब भी कोई कठिन समस्या आती और मैं समस्त प्रयत्नों के उपरांत उसका समाधान ढूंढ नहीं पाता तो दाते साहब के चित्र को ऐसे प्रार्थना करता मानो स्वयं दाते साहब से ही प्रार्थना कर रहा हूँ। आश्चर्य की बात यह है कि सदैव ही ऐसी प्रार्थना करने के बाद स्वयं मुझे अपने अन्दर से ही उस समस्या का हल प्राप्त हो जाता। समस्या और उसका हल ऐसे स्पष्ट होने लगता मानो अन्दर से कोई मुझे ठीक-ठीक समझा रहा हो। दूसरों से मैं इस विषय में कुछ भी कह नहीं पाता क्योंकि मुझे डर था कि वे मुझे मूर्ख कहेंगे, परन्तु स्वयं मेरे जीवन का यह एक निश्चित क्रम बन गया। धीरे-धीरे पढ़ाई की समस्याओं का स्थान जीवन की समस्याओं ने ले लिया और मैं दाते साहब से जो बात कह नहीं सकता था वह सब उनके चित्र के सामने एक प्रकार से हृदय खोल कर कह देता। नम्रता से, आग्रह से, रोकर या किसी अन्य भाव से नि:संकोच होकर अपना हृदय चित्र के सामने खोल कर रख देता। इससे दो लाभ होते—एक तो मन का बोझ हल्का हो जाता और दूसरा समस्या का समाधान भी हो जाता।

तभी एक बार रविवार के कार्यक्रम में दाते साहब ने कहा—"अरे, देव तो सब कुछ जानते हैं यह सही है, परन्तु उन्हें अपने मन की व्यथा शब्दों द्वारा कहना आवश्यक है। 'देव तो सब जानते हैं उनको कहने की क्या आवश्यकता है' ऐसा सोचना भूल है। देव के सब कुछ जानते

हुए भी तुमको उनके सामने हृदय खोल कर रखना ही चाहिए। यह नितान्त आवश्यक है। 'जैसा देव तैसा गुरु' अतएव गुरु को भी सब कुछ कह देना चाहिए चाहे वे आपके बिना कहे भी सब कुछ जानता हों।"

तब मैंने साहस करके एक दिन दाते साहब को यह सब कुछ बता दिया। उन्होंने तत्काल उत्तर दिया—'हाँ, देव को भी कहना लगता है।' अर्थात् देव को भी कहना पड़ता है।

(40)
कम से कम मन से तो त्याग करो

बात सन् 1959 की है। तब दाते साहब विष्णु भवन, उदय मन्दिर में रहते थे। उनका एक शिष्य शाम को प्रतिदिन वहाँ नेम करने के लिए जाता था और नेम के पश्चात् दाते साहब घूमने को जाते थे तो वह भी उनके साथ घूमने जाता था। एक दिन सदा की भांति नेम करने के लिए वह वहाँ गया। थोड़ी देर बाद नेम करते समय ही उसे याद आया कि उसने नीचे साईकिल पर लगी अपनी पुस्तकों को वहीं छोड़ दिया है। पुस्तकें विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से लाई हुई थीं और कम से कम तीन-चार सौ रुपये की तो थीं ही। अब यह चिन्ता लगी कि ये पुस्तकें कोई साईकिल में से निकाल कर ले जाएगा तो क्या होगा? पुस्तकें पढ़ने से तो वंचित रहेगा ही, ऊपर से तीन-चार सौ रुपये की हानि हो जाएगी। पुस्तकालय दण्ड स्वरूप क्या लेगा यह भी उसे

ठीक-ठीक पता नहीं था। इस चिन्ता का क्रम ऐसा चला कि नाम का स्मरण ही बंद हो गया। दाते साहब पास ही बैठे थे अतः उठकर जाने का साहस भी नहीं होता था और चिन्ता के कारण नाम-स्मरण भी छूटता जा रहा था। अंतर्व्यथा की यह दशा अधिक देर सहन न करने के कारण अन्त में उसने मन ही मन संकल्प किया—'अगर पुस्तकें खो भी जायेंगी तो कोई आसमान नहीं फटेगा। जो भी हानि होगी सहन करूंगा। उठ कर जाना तो संभव नहीं है तो फिर व्यर्थ में चिंता कर के नेम में विघ्न क्यों?' इस विचार का आश्चर्यकारक प्रभाव हुआ, मन शान्त हो गया और नेम भी उत्तम प्रकार से होने लगा। न पुस्तकों का ध्यान रहा और न हानि की चिंता ही।

नेम समाप्त कर जब घूमने को निकले और नीचे आने पर साईकिल में पुस्तकें यथास्थान रखी देखी तो उसे बड़ा आनन्द हुआ। पुस्तकें ठीक से एक दुकान पर रखकर घूमने गया। रास्ते में उसने दाते साहब को यह वृत्तान्त सुना कर कहा—'महाराज की दया से मेरा नेम भी अच्छा हो गया और पुस्तकें भी यथास्थान मिल गईं।' तब दाते साहब ने कहा—'बराबर है। परमार्थ में प्रगति के लिए ऐसी ही मानसिक तैयारी चाहिए। जो जाने वाला है उसे जाने देने की मानसिक तैयारी के बिना परमार्थ में प्रगति हो ही नहीं सकती। अरे मन से छोड़ने में लगता भी क्या है? परन्तु हम इस जाने वाले जगत् को छोड़ना तो क्या छोड़ने की कल्पना भी सहन नहीं कर सकते। फिर परमार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है।'

(41)
पवित्र स्वयं अपने को बनाओ

एक बार रविवार के कार्यक्रम में दाते साहब ने कहा—लोग मुझे कहते हैं, 'मेरे घर पधारिए, मेरे घर को पवित्र कीजिए।' मैं कहता हूँ, 'घर को पवित्र करने से क्या होगा? तुम स्वयं पवित्र बनो, घर स्वत: ही पवित्र बन जायेगा। परन्तु कोई यह नहीं कहता कि मुझे पवित्र करो। अरे बाबा, राम नाम रटो और देव-दर्शन लो, और तब न केवल तुम पवित्र हो जाओगे बल्कि अपने कुल को भी पवित्र कर दोगे। परन्तु ऐसा करता कौन है?'

इसी प्रकार एक बालिका ने कहा—'राम ने अपनी निर्दोष पत्नी को, सती शिरोमणि सीता को, त्याग दिया, वनवास दे दिया। ऐसे निष्ठर राम का नाम हम क्यों रटें?' दाते साहब ने उसकी भावनाओं को समझ कर उत्तर दिया—'अरे, यह दशरथी राम तो कल का है, तुम आत्माराम को रटो और जैसे आत्माराम शाश्वत है वैसे ही शाश्वत बन जाओ।'

रविवार के एक अन्य कार्यक्रम में दाते साहब ने कहा—'लोग यज्ञ करते हैं, कितना सारा घी, चावल और अन्यान्य खाद्य पदार्थ जलाकर राख कर देते हैं। क्यों नहीं यह खाद्य पदार्थ भूखे को देकर उसे तृप्त किया जाये? परन्तु ऐसा नहीं करेंगे। कहते हैं उससे वातावरण शुद्ध बनता है, पवित्र बनता है। अरे बाबा, जब तुम ही शुद्ध और पवित्र नहीं हो तो घी इत्यादि जलाकर शुद्ध किया गया वातावरण कितने दिन शुद्ध

रह पायेगा। पहले स्वयं पवित्र बनो और तब वातावरण स्वतः ही शुद्ध हो जाएगा।'

उस दिन संयोगवश एक आर्य समाजी सज्जन सभा में उपस्थित थे। उनको यह आलोचना रुचि नहीं। उन्होंने कहा—'वेदों में जिन यज्ञों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है उसकी इस प्रकार आलोचना क्या उचित कही जा सकती है?' दाते साहब ने कहा—"यज्ञ की ही बात है तो फिर 'द्रव्य यज्ञ' पर ही सारा बल क्यों? क्या ज्ञान-यज्ञ अथवा आत्म-यज्ञ की चर्चा उचित नहीं है? ज्ञानाग्नि में अपने काम-क्रोध आदि विकारों को जलाकर शुद्ध व पवित्र बनना श्रेयस्कर नहीं है क्या? इस ज्ञान-यज्ञ की तुलना में अन्य सभी यज्ञ गौण हैं। यदि हमें पवित्र बनना है तो उसका एकमात्र उपाय ज्ञानाग्नि प्रज्वलित कर उसमें विकारों की आहुति देना ही है। घी व चावल की आहुति से मन के विकारों की शुद्धि संभव नहीं।"

(42)
दूसरों का अहित सोचना भी आत्महित में बाधक

दाते साहब के निकट संपर्क में आए हुए एक साधक के विषय में एक अन्य साधक ने दाते साहब को कहा—'वह साधक तंत्रविद्या जानता है और ऐसे कई अनिष्ट कार्य कर सकता है जो लोगों को

भयभीत कर सके। एक बार कुछ ऐसा ही विवाद हो जाने पर उसने हमारी आँखों के सामने खड़े-खड़े एक पेड़ को जलाकर अपनी इस शक्ति का प्रदर्शन भी किया था।'

दाते साहब ने कहा—'बाबा, परमार्थ अपने आत्महित के लिए किया जाता है। दूसरों को कष्ट देने वाला व्यक्ति परमार्थी कैसे हो सकता है? और फिर एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी चाहिए कि खरा परमार्थी देव की कृपा चाहता है, उसकी शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं करता।' और फिर पूछा—'क्या वह अब भी ऐसा करता है?'

साधक: नहीं, इन दिनों में उसके विषय में ऐसा कुछ भी नहीं सुना है।

दाते साहब: वह अब ऐसा कर भी नहीं सकता। अब उसकी वह शक्ति लुप्त हो गई है।

तभी एक अन्य साधक ने पूछा—'इस जगत् में दुष्ट लोग भी तो बहुत हैं। वे अकारण सज्जन लोगों का अहित करते हैं। ऐसे लोगों को दण्डित करने में तो कोई हानि नहीं।'

दाते साहब: यह तुम्हारा काम नहीं है। देव अपने भक्त की रक्षा करने में समर्थ है, वह उसके कष्टों को दूर करने को सदैव तत्पर रहता है। तुमको करना ही है तो देव से अपने छुटकारे के लिए प्रार्थना करो; परन्तु दूसरों का अहित हो ऐसी प्रार्थना कभी नहीं करनी चाहिए।

जिसने दुष्टता की है वह अपनी दुष्टता का फल अवश्य भोगेगा। तुम अपने आत्महित का चिन्तन करो।

साधक: इससे तो न्याय-व्यवस्था की ही अवमानना होगी।

दाते साहब: अरे बाबा, तुम दण्डनायक हो क्या जो न्याय-व्यवस्था की ऐसी चिन्ता करते हो। तुम एक साधक हो, तुमको क्या करना योग्य है उस पर ध्यान दो। गुरु प्रदत्त नाम का सतत स्मरण करो और आवश्यक हो तो देव को अपने दु:खों से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना भी करो, परन्तु यदि अपना आत्महित चाहते हो तो न तो दूसरों को पीड़ा पहुंचाओ और न दूसरे का अहित हो ऐसी प्रार्थना ही करो। इसीमें हमारा अपना हित है।

(43)
खरा गुरु कौन? जो ईश्वर दर्शन करा सके

आज देश में गुरुओं की ऐसी भीड़ तैयार हो गई है कि कौन गुरु खरा है और कौन खोटा यह समझ पाना कठिन हो गया है। दाते साहब विनोद में सदैव ही कहते थे, 'ऋषिकेश, हरिद्वार आदि तीर्थ रूप में प्रसिद्ध स्थानों में किसी भी राह में पड़े पत्थर को उलटिये तो उसके नीचे एक गुरु निकल आएगा। परन्तु ऐसा गुरु शिष्य का क्या भला कर सकता है?' वे, रामदास महाराज के शब्दों में कहते थे, 'ऐसे गुरु एक पैसे के तीन भी मिल जायें तो भी उनको त्याज्य समझना चाहिए।' तब

खरे गुरु की पहिचान क्या? इस प्रश्न का उत्तर दाते साहब इस प्रकार देते थे, 'जिसने ईश्वर के दर्शन किए हैं और जो ईश्वर दर्शन दूसरों को भी करवा सकता है वही खरा गुरु है। जो ऐसा न कर सके उसे गुरु मानना भूल है और उसे जितना शीघ्र छोड़ा जा सके उतना ही अच्छा।'

अपने इस कथन की पुष्टि वे श्रीमद्भगवद्गीता से उदाहरण देकर कहते—"श्री कृष्ण ने ज्योंही अर्जुन से कहा, 'पश्य में पार्थ रूपाणि ----', त्योंही अर्जुन बोल उठा, 'पश्यामि देवांस्तव देव देहे ----'। वैसे ही जो गुरु शिष्य को कहे, 'देख', और अर्जुन की ही तरह वह कह उठे, 'हाँ महाराज, मैं देखता हूँ'—तब मानना चाहिए कि हमें सच्चे गुरु की शरण प्राप्त हो गई है।"

दाते साहब ऐसा कहते ही नहीं थे, करते भी थे। साधक को आकाश की ओर देखने का कह कर पूछते थे—'क्या देखते हो?', और शिष्य 'बिंदु, तारे' आदि देखता हूँ ऐसा उत्तर देता था। परन्तु यदि एक बार में 'कुछ नहीं दिखता' ऐसा उत्तर देता तो वे उसे और ध्यान से देखने को कहते और तब उसे 'यह या वह दिखाई देता है' ऐसा पता चल जाता और इस प्रकार उसके पारमार्थिक जीवन का प्रारम्भ हो जाता। खरे गुरु के जो लक्षण वह बताते थे तदनुसार वे स्वयं वर्तन भी करते थे। उनके संपर्क में आया हुआ शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जिसे किसी न किसी रूप में पारमार्थिक अनुभव नहीं आया हो। ऐसा गुरु ही शिष्य का परम-कल्याण कर सकता है। उसे ही सद्गुरु का गौरवपूर्ण पद प्राप्त है।

(44)
सगुण न जाने कोय

एक बार रविवार के कार्यक्रम में परमार्थ-सोपान में से तुलसीदास की यह उक्ति—'निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण न जाने कोय' का अर्थ बताते हुए दाते साहब ने कहा—

"निर्गुण का अर्थ गुणों का अभाव नहीं है; उसका वास्तविक अर्थ रामदास के वचनानुसार 'बहुगुण' होता है अर्थात् देव में सभी गुण होते हुए भी वह किसी एक गुण से सीमित नहीं है। 'देव ऐसा है और वैसा नहीं है' यह कहा नहीं जा सकता। अनुभव के आधार से देखते हैं तो देव का पुरुष रूप में दर्शन होने से उसे पुरुष कहने जायें तो देखते-देखते ही वह स्त्री रूप हो जाता है, सुन्दर व आकर्षक रूप दूसरे ही क्षण विकराल और भयावह हो जाता है, और श्याम वर्ण का दिखते-दिखते वह किसी भी अन्य वर्ण का रूप धारण कर लेता है। अतः किसी गुण विशेष की सीमा में बांधकर उसका वर्णन करना संभव नहीं है और फिर भी वह कोई भी गुण या रूप धारण कर सकता है। अतएव उसे निर्गुण अर्थात् 'बहुगुण' संपन्न कहना ही उचित है। इसी न्याय से जो किसी गुण या गुणों से सीमित है उसे सगुण कहा जाएगा। अब जो गुण-रूप युक्त है वह सहज ही बुद्धि ग्राह्य होगा और इसलिए लोक-मत सगुण को सुलभ मानते हैं। परन्तु तुलसी ने इसके विपरीत

मत प्रकट किया है। वे कहते हैं कि निर्गुण रूप तो सुलभ है परन्तु सगुण किसी को समझ में नहीं आता। इसका क्या आधार है?"

दाते साहब ने इसका उत्तर देते हुए कहा, "जो कोई गुरु से नाम लेकर साधना करता है उसे थोड़े समय पश्चात् गुरु-कृपा से बिन्द, नाद आदि का अनुभव आने लग जाता है और उसको क्या दिखता है यह भी सरलता से समझ में आ जाता है। अतएव तुलसी महाराज ने निर्गुण को तो सुलभ कहा है। परन्तु गुरु देहधारी होने से उस साधक को देव रूप में नहीं, मनुष्य रूप में ही दिखाई देता है। हम उसके अनुभव-जन्य देवत्व को तो समझ नहीं पाते और उसके देह को ही ध्यान में रखकर उसे मनुष्य मात्र समझ लेते हैं और तदनुसार उसके साथ वर्तन भी करते हैं। 'वे मनुष्य नहीं, देव ही हैं' ऐसा तो कोई विरला साधक ही जान पाता है। जैसे अर्जुन ने श्रीकृष्ण को मात्र मनुष्य समझ कर उन्हें अपना सखा मानकर वर्तन किया था, या जैसे तुलसी महाराज के अनुसार राम को मनुष्य समझने की भूल लोगों ने की थी, वैसी ही भूल सभी साधकों से होती है। वे गुरु के देवत्व को समझ नहीं पाते। अम्बुराव महाराज ने भी उपस्थित मंडली को कहा था—'तुम अपने गुरु को मनुष्य समझते हो देव नहीं, परन्तु मैं महाराज (भाऊ साहब) को देव ही समझता हूँ।' इससे प्रमाणित हुआ कि देहधारी संत जिनको कबीर महाराज ने 'देव का साकार रूप' कहा है देव समझना अत्यन्त कठिन है। इसको तो कोई बिरला साधक ही जानता है। इसी तथ्य को 'सगुण न जाने कोय' कह कर तुलसी महाराज ने प्रकट किया है।"

(45)
संतो के पास अनुमति लेकर ही क्यों जाना चाहिए?

दाते साहब का व्यवहार सामान्यतः अत्यन्त सौजन्यतापूर्ण था, परन्तु रविवार के कार्यक्रम में यदि कोई बिना उनकी पूर्व अनुमति के आ जाता तो उनको बहुत बुरा लगता और वह प्रायः कठोर हो जाते थे। वे कहते भी थे—'My doors are open to go out, not to come in'—मेरे द्वार बाहर जाने के लिए खुले हैं, अन्दर आने के लिए नहीं। इसी प्रसंग में निम्नलिखित घटना का स्मरण हो आता है।

एक बार विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक बिना पूर्व अनुमति लिये रविवार के कार्यक्रम में आ गए। दाते साहब ने ज्योंही उनको देखा तो पूछा—'आप किसकी अनुमति से आए हैं?'

प्राध्यापक: मैं प्रोग्राम में भाग लेने आया हूँ।

दाते साहब: सो तो ठीक है, परन्तु क्या आपने यहाँ आने की अनुमति ली है?

प्राध्यापक: नहीं, ऐसी कोई अनुमति नहीं ली। मैंने सोचा इसकी आवश्यकता ही क्या है?

दाते साहब: आप पढ़े-लिखे हैं, क्या यह भी नहीं जानते कि किसी संभ्रांत व्यक्ति के घर जाने से पूर्व उससे appointment लेना पड़ता है?

प्राध्यापक: यह तो spiritual programme है, इसमें भी permission?

दाते साहब: यह मेरा घर है, यह worship private है, public नहीं।

प्राध्यापक: (कुछ विचलित सा हो कर झुंझलाहट से) आप चाहते क्या हैं? मैं चला जाऊं क्या?

दाते साहब: हाँ, हाँ, अवश्य ही। तब वह प्राध्यापक महोदय चले गए।

प्राध्यापक के चले जाने के बाद ही कार्यक्रम शुरु हुआ। उस कार्यक्रम के बीच में ही इस घटना की ओर संकेत करते हुए दाते साहब ने कहा—'क्या हम पढ़े-लिखे लोगों में इतना शिष्टाचार भी नहीं होना चाहिए कि यदि हम किसी अपरिचित के घर जायें तो उसके पूर्व उससे appointment (अनुमति) ले लें? सभ्रांत कहलाने वाले व्यक्ति से कम से कम इतनी आशा तो की ही जा सकती है। It is the minimum requirement of a gentleman और फिर यह मेरा घर है, यह सब पारिवारिक आयोजन है, इसमें कोई भी जब चाहे तब कैसे आने दिया जा सकता है।'

परन्तु इसका एक अन्य कारण भी था जो दाते साहब ने बताया नहीं। जो रविवार के कार्यक्रम में भाग लेते हैं उनको महाराज का संरक्षण प्राप्त होता है और किसी की योग्यता की परीक्षा लिए बिना उसे ऐसा संरक्षण प्रदान करना कैसे उचित हो सकता है? दाते साहब कहा करते थे—'लोग तमाशा देखने आते हैं, परमार्थ में उनकी रुचि ही नहीं होती। ऐसे लोगों का यहाँ क्या काम है? उन्हें किस प्रकार अनुमति दी जा सकती है?'

(46)
त्याग से सिद्धि

परमार्थ में सफलता के लिए त्याग और वैराग्य दोनों ही आवश्यक हैं। त्याग वैराग्य की पहली सीढ़ी है। दाते साहब प्रायः कहा करते थे, 'वैराग्य की बात कम करो, त्याग से ही प्रारम्भ करो। वैराग्य संसार और सांसारिक वस्तुओं के लिए आत्यन्तिक तितिक्षा (disgust for all Godless things) है जो ईश्वर-दर्शन के पश्चात् ही आती है, परन्तु उसकी तैयारी के रूप में त्याग का संबल लिया जा सकता है।' यह त्याग ही परमार्थ-सिद्धि तक कैसे पहुँचा देता है और उसके सोपान कौन-कौन से हैं यह दाते साहब इस प्रकार बताते थे।

साधन के प्रारम्भ में ही दो-तीन घंटों का समय नेम, पोथी आदि के लिए निकालना ही पड़ता है और तब कम से कम उस समय के लिए अन्य सांसारिक कार्यों को छोड़ना ही पड़ता है। अतः हमने कुछ समय

देव-कार्य में लगाया है वही त्याग की प्रारंभिक स्थिति या अवस्था है। फिर समय-समय पर देव को प्रसाद-नैवैद्य, धूप, दीप आदि के द्वारा भौतिक वस्तुएं समर्पित की जाती हैं। हमें जो वस्तु या खाद्य पदार्थ अत्यन्त रुचिकर लगता हो उसे महाराज को अर्पण करो। किंतु यदि हम स्वयं अपने लिए तो अच्छा देशी घी काम में लायें और देव के दीप में डालडा या अन्य वनस्पति तो यह अनुचित होगा, त्याग में कपट होगा। इससे तो अच्छा यह होगा कि आप डालडा खाओ और देव के लिए अच्छे देशी घी का दीपक जलाओ। इस प्रकार जो कुछ भौतिक सम्पदा आपके पास है वह देव की दी हुई है ऐसा मानकर नि:संकोच उसे देव को अर्पण करते रहो। यह त्याग की दूसरी स्थिति है। इससे धीरे-धीरे भौतिक वस्तुओं के प्रति आपकी आसक्ति कम होकर देव को अधिक से अधिक समय और सम्पदा अर्पण करने की भावना प्रबल होती जाएगी।

तब अपनी समस्त शक्तियां—शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक—देव कार्य में ही लगी रहें ऐसी इच्छा जागृत होगी और तब मन और देह के ये कार्य देव को समर्पित होते जायेंगे। देह संबंधी—पत्नी, पुत्र, पुत्रियां आदि सभी—आपके आदर्श का अनुकरण करेंगे और तब घर का वातावरण भक्तिमय होकर परिवार में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

तब बारी आती है आपके मानसिक विकारों की—क्रोध, घृणा, द्वेष, प्रेम, प्रीति आदि की। इनको भी देवार्पण करना, देव को केन्द्र

मानकर ही उनकी अभिव्यक्ति करना और उन्हें ज्ञानाग्नि में हवन करते रहना चाहिए। इस प्रकार मन के विकार शुद्ध और परिष्कृत होते जाएंगे और देह, देह-संबंधी और देह के विकार देव की सेवा में लगते जाएंगे, 'अहं' में कमी होती जाएगी, और भक्ति, नाम-स्मरण और रूप-दर्शन में रुचि बढ़ती जायेगी और इससे ही 'देव सब कुछ है, मैं कुछ भी नहीं' ऐसे भाव में वृद्धि होगी और अन्ततोगत्वा 'देव ही है, और कुछ नहीं, मैं नहीं और तुम नहीं' ऐसा अनुभव दृढ़ होता जायेगा और अपना अस्तित्व आपके सामने जो देव-रूप है उसमें लीन कर सकोगे। ज्ञानेश्वर महाराज ने इसको ही, अर्थात् देव से एक रूप होने को ही, शरणागति कहा है।

इस प्रकार त्याग से परमार्थ सिद्धि संभव हो जाती है।

(47)
ईश्वर में विश्वास होने पर ही प्रसन्न रहा जा सकता है

दाते साहब को ऐसा साधक जो मुँह लटका कर उदास और दु:खी दिखाई देता कभी भी अच्छा नहीं लगता था। वे प्राय: कहा करते थे—"जैसे 'तापड़' में बैठते हैं वैसे क्या बैठे हो? देव आनन्द रूप है अतएव उसका भक्त भी सदैव आनन्दित ही रहना चाहिए।" परन्तु एक ऐसे साधक भी थे जिन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे वैसे ही

व्यथित और दु:खी दिखाई देते। एक बार दाते साहब ने कुछ नाराज होकर उसको कहा—'ऐसे क्या बैठे हो जैसे कोई आज ही मरा है और तुम उसका शोक कर रहे हो।'

साधक: मैं क्या करूं? जब चारों ओर से निराशा ही दिखाई दे तो प्रसन्न कैसे रहा जा सकता है?

दाते साहब: क्या जीवन की कठिनाइयां केवल तुमको ही है? अरे बाबा, यह जीवन है ही संघर्ष के लिए।

साधक: वह तो मैं करता ही हूँ, साहब।

दाते साहब: अरे बाबा, यह क्यों मानते हो कि सब कुछ करने वाले तुम ही हो। क्यों अपने सिर पर अनावश्यक बोझा लिए घूमते हो?

साधक: मैं बोझा लेता कहाँ हूँ, साहब? यह तो मेरे सिर पर आकर गिरता है।

दाते साहब: अरे, इन कठिनाइयों को लेकर रोओगे तो रोते ही रहना पड़ेगा। कल्पतरु के नीचे बैठ कर भी दु:ख करते हो तो फिर दु:ख ही मिलेगा।

साधक: तो मैं करूं क्या?

दाते साहब: साधक को क्या करना चाहिए? नाम का स्मरण। देव दयालु है, उसकी दया पर विश्वास करो और गुरु प्रदत्त नाम को रटते

रहो। याद रखो उसकी दयालुता पर जितना ही अधिक तुम्हारा विश्वास होगा उतने ही अधिक तुम प्रसन्न रह सकोगे।

(48)
हित गुज तयाची सांगावे

बात सन् 1961 की है। तब दाते साहब जयपुर में राजस्थान विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष थे। एक दिन उन्होंने अपना एक पत्र अपने एक शिष्य को दिया और कहा 'पढ़ो'। उसने पूरा पत्र पढ़ा। पत्र एक नवनियुक्त प्राध्यापक को उसके पत्र के उत्तर में लिखा गया था। दाते साहब के पत्र ने उस शिष्य को बहुत प्रभावित किया और पत्र लौटाते हुए उसने कहा, 'आपने मुझे तो कभी भी ऐसा पत्र लिखा नहीं। यह भाग्यशाली सज्जन कौन है?' दाते साहब कुछ गंभीर हो गए और कहा—'क्या तुमने कभी अपना हृदय मेरे सामने खोल कर रखा है?' शिष्य क्या उत्तर देता? उनका कहना सही था। मन के संकोच के कारण सब कुछ मुक्त-हृदय से उनको कहने में वह सदैव हिचकिचाता था। सिर नीचा किये संकोच से उसने पूछा—'तो जिसे आप यह पत्र भेज रहे हैं उसने आपके सामने हृदय खोल कर रखा था?' इसके उत्तर में दाते साहब ने उस घटना का विस्तार से वर्णन किया जिससे वह व्यक्ति उनके संपर्क में आया था।

किसी एक विश्वविद्यालय में मुझे लेक्चरर के पद पर नियुक्ति के लिए expert के रूप में बुलाया गया। मैं उस नगर में अपने एक

मित्र के घर ठहरा हुआ था। वहाँ एक व्यक्ति मुझसे मिलने आया। मेरे पूछने पर नमस्कार-अभिवादन के बाद उसने कहा—'आप जिस नियुक्ति के लिए expert होकर आये हैं मैं उसमें से एक उम्मीदवार हूँ और आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। आप आज्ञा दें तो निवेदन करूं।'

'तुम्हारा इस प्रकार expert को प्रभावित करने का साहस कैसे हो गया? क्या तुम नहीं जानते कि इसी कारण तुमको मैं disqualify करवा सकता हूँ?' मैंने कहा।

सिर नीचा किए अत्यन्त संकोच से उसने कहा—'श्रीमानजी, किया तो मैंने दुस्साहस ही है परन्तु मैं तो केवल अपनी बात आपसे कहना चाहता हूँ। कीजिए वही जो आप उचित समझें। और मेरे जैसा सामान्य व्यक्ति आपको कैसे प्रभावित कर सकता है?'

मैंने कहा—'अच्छा कहो, क्या कहना चाहते हो? परन्तु संक्षेप में, फिर बिना पूछे यहाँ से चले जाना।'

उस ने कहना शुरू किया—'मैंने दो वर्ष पूर्व इसी विश्वविद्यालय से एम.ए. प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण किया था। प्रतिवर्ष उम्मीदवार बन कर जाता हूँ परन्तु प्रभावशाली व्यक्तियों की सिफारिश पर मुझ से कम योग्यता के लोगों की नियुक्ति हो जाती है और मैं ऐसे ही रह जाता हूँ। घर की विपन्नावस्था, बार-बार की असफलता और कुछ भी न कर पाने की भावना ने मुझे हतोत्साहित कर दिया है। इस

बार आप जैसे न्यायप्रिय और दयालु expert आए हैं इसीलिए निवेदन करने चला आया कि यदि आप मुझे अन्य उम्मीदवारों से अधिक योग्य पायें तो विश्वविद्यालय के अधिकारियों के दबाव में आकर मुझे reject मत कीजियेगा। मुझ पर दया कर मेरी योग्यता का सही मूल्यांकन करवा कर ही मुझे recommend कीजिए।'

मैंने यह सब धैर्यपूर्वक सुना और जब उसका कहना समाप्त हो गया तब उसको जाने के लिए संकेत कर दिया।

दूसरे दिन Vice-Chancellor, Head of Deptt. और Registrar के अतिरिक्त दो experts थे जिनमें से एक स्वयं मैं था। जब उस व्यक्ति का interview शुरू हुआ तो मुझे लगा कि उस उम्मीदवार को विषय का अच्छा ज्ञान था और उसके उत्तर संतोषजनक थे। स्पष्ट ही वह सबसे अच्छा उम्मीदवार था, परन्तु चयन का जब प्रश्न आया तो Head of Deptt. ने किसी अन्य का नाम प्रस्तावित कर उसके उत्तर की प्रशंसा करनी शुरू कर दी। मैंने तत्काल कहा—'आप जिस उम्मीदवार की बात करते हैं वह योग्य तो है परन्तु सर्वश्रेष्ठ नहीं। इस दूसरे उम्मीदवार (जो मुझसे मिला था) की performance कहीं अधिक अच्छी है, मैं तो उसे ही recommend करता हूँ।' संयोगवश दूसरे expert ने भी उसे ही recommend किया। इस पर Vice-Chancellor उठकर बाहर चले गए और उनका स्थान Head of Deptt. ने लिया और कहा, 'Vice-Chancellor साहब

मैं जिस व्यक्ति के बारे में कह रहा हूँ उसमें interested हैं और मैं आशा करता हूँ कि आप उनकी इच्छा का आदर करेंगे।'

दूसरा expert तो कुछ बोला नहीं परन्तु मुझे यह अन्याय असहनीय प्रतीत हुआ—'यदि आपको अपना आदमी ही नियुक्त करना था तो फिर हमें व्यर्थ में बुलाया ही क्यों? जो भी हो मैं तो इस उम्मीदवार को recommend करता हूँ, आप जिसे चाहें उसे ही नियुक्त कीजिए।' इस प्रकार Vice-Chancellor और Head of Deptt. की इच्छा के विरुद्ध उस व्यक्ति की नियुक्ति हो गई।

उस उम्मीदवार ने अपनी नियुक्ति के पश्चात् कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए जो पत्र लिखा था दाते साहब का लिखा हुआ पत्र उसी का उत्तर था।

क्या आज के इस 'मैं तुम्हारी पीठ खुजलाता हूँ, तुम मेरी पीठ खुजलाओ' (I scratch your back and you scratch my back ऐसा दाते साहब प्रायः कहा करते थे) वाले युग में इस प्रकार का साहस और न्याय-प्रियता कहीं और देखने को मिलेगी?

तब समझ में आया कि गुरु के सामने बिना दुःख, भय, लज्जा या संकोच के सभी कुछ कहने का, अपने हृदय को पूर्ण रूप से उनके सामने खुला रखने का कितना अधिक महत्त्व है।

(49)
संत देवेच्छा जानकर ही कुछ करते हैं

बात सन् 1960-61 की है। दाते साहब के एक शिष्य के पांव में बहुत पीड़ा रहती थी। उसने कई उपचार करवाये, एक के बाद एक करके दो बार operations भी करवा लिए, परन्तु रोग ठीक हुआ नहीं। कुछ दिन ठीक रहता और फिर रोग प्रकट हो जाता। इस पीड़ा से व्यथित होकर उसने एक दिन दाते साहब से इस रोग से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना की। दाते साहब ने उसे फिर से operation करवाने की सलाह दी। जिस दिन उसके operation हुआ उसी दिन शाम को दाते साहब उससे मिलने गये और जहाँ operation हुआ था उसके आस-पास अपने हाथ से अंगारा लगाया। प्रभाव चमत्कारिक हुआ। न केवल उसका घाव ही शीघ्र भर गया बल्कि उसके पश्चात् उसको इस रोग ने कभी नहीं सताया और वह सदैव के लिए उस रोग से मुक्त हो गया।

इसके ठीक विपरीत एक स्त्री साधक के अंगारा देने की प्रार्थना करने पर उन्होंने अनिच्छा प्रकट की। हुआ ऐसे था कि उस स्त्री का एक मात्र भाई गंभीर रूप से बीमार था और डॉक्टर लोग उसे बचाने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे। वह स्त्री इसी कारण दाते साहब से अंगारा मांगने के लिए आई। पहले तो दाते साहब ने मना ही कर दिया परन्तु फिर उसको हताश और निराश देख कर कहा, 'महाराज के

सामने अंगारा रखा है, जा कर ले लो।' परन्तु उस स्त्री ने दाते साहब के हाथ से ही अंगारा प्राप्त करने का आग्रह किया। अन्त में दाते साहब ने अंगारे की पुड़िया बांधी और देते हुए उस स्त्री से कहा—'इसे भूमि पर मत रखना।' उस स्त्री ने 'हाँ' कहा और वहाँ से सीधी अस्पताल चली गई, परन्तु दुर्योग से अस्पताल में घुसते समय अंगारा उसके हाथ से फिसल गया और सड़क पर जा गिरा। शायद उसके भाई की मृत्यु निश्चित ही थी।

इन दोनों और ऐसी ही अन्य घटनाओं के साक्षी एक साधक ने एक बार दाते साहब से पूछ लिया—'आप किसी को बचा लेते हैं तो किसी अन्य को यों ही छोड़ देते हैं। ऐसा क्यों होता है?'

दाते साहब ने कहा—"अरे बाबा, मारने या बचाने वाला मैं कौन होता हूँ। महाराज समर्थ हैं, वह जो चाहते हैं वही होता है। पता है न, रानडे साहब ने मुझे बार-बार जीवनदान दिया था, परन्तु किसी अन्य के लिए 'Let him die in peace' (इसे शान्ति से मरने दो) कहा था। वास्तव में संत देवेच्छा जानकर ही कोई काम करते हैं। ऐसा नहीं कि वे कर नहीं सकते, परन्तु कर सकने की सामर्थ्य होते हुए भी वे देव की इच्छा के सम्मुख नतमस्तक रहते हैं। यही इसका महत्त्व है।"

(50)
ईश्वर-प्रेम का निकष

दाते साहब के सम्पर्क में आए एक साधक अपने आपको काफी advanced समझते थे। वे नेम की तो उपेक्षा करते थे परन्तु भजन आदि गाते और कहते, 'ईश्वर तो प्रेम का भूखा है, प्रेम नहीं तो नेम क्या कर लेगा? प्रेम है तो वह स्वत: ही प्राप्त हो जाएगा।' उसको लक्ष्य कर दाते साहब ने एक बार कहा—"ईश्वर-प्रेम की बातें कहने-सुनने में अच्छी लगती हैं, परन्तु न तो कहने वाला और न ही सुनने वाला ईश्वर को प्रेम करता है। अरे, जिस ईश्वर को तुमने देखा ही नहीं उसको प्रेम कैसे कर सकते हो? तुम प्रेम करते हो अपनी पत्नी से, अपनी सन्तान से और उनके लिए नाना प्रकार के कष्ट उठाकर भी अच्छी से अच्छी वस्तु लाकर देते हो। क्या ईश्वर के लिए ऐसे ही प्रेम से कभी कुछ लाते हो? उत्तम वस्तु खाने को बैठते हो तब आपको देव या गुरु का स्मरण होता है क्या? अपनी सबसे प्रिय वस्तु देव को अर्पण करने की इच्छा जागृत होती है क्या? 'अरे, देव नहीं मिला, जीवन व्यर्थ जा रहा है', ऐसा भाव मन में आता है क्या? क्या स्वादिष्ट भोजन आपके कण्ठ में अटक कर रह जाता है? यदि नहीं तो फिर प्रेम की निरर्थक बातें क्यों करते हो? आपका प्रेम कैसा कि चार आने की शक्कर भेंट कर लाखों की सुविधा चाहते हैं और फिर भी अपने आपको भक्त कहते हैं। 'ईश्वर को प्रेम करते हैं' ऐसा कहते हुए आपको लज्जा नहीं आती? अरे, प्रेम तो देना जानता है, लेने का भाव उसमें होता ही नहीं।"

"अतः, ईश्वर से खरा प्रेम करना चाहते हो तो गुरु की शरण जाओ, उससे नाम-मंत्र लो और नाम को प्रेम व आदर से स्मरण करते रहो। इससे कालान्तर में ईश्वर दर्शन होगा और तभी उससे प्रेम करना संभव हो सकेगा। तब संसार की कोई भी वस्तु वह चाहे कितनी भी मूल्यवान और प्रिय क्यों न हो देव के चरणों में आनन्द से अर्पित कर सकोगे और जो कुछ वह देगा उसको उसका कृपा-प्रसाद समझकर ग्रहण कर सकोगे।"

(51)
परमार्थ में 'सेक्स' का स्थान

एक बार अनौपचारिक चर्चा के समय परमार्थ में 'सेक्स' के स्थान पर बात चल पड़ी। योग शास्त्र में 'सेक्स' को परमार्थ साधन में बाधा माना गया है तो तांत्रिक साधना में उसे साधन का एक अपरिहार्य अंग ठहराया गया है। इन दोनों में से प्रामाणिक रूप से किसे सत्य और स्वीकार्य समझना चाहिए?

इस पर दाते साहब ने कहा—"इस विषय में रामभाऊ महाराज ने जो कुछ कहा है वह शत प्रतिशत सही है। 'सेक्स' को नियंत्रित किए बिना परमार्थ में प्रगति संभव ही नहीं है। रामभाऊ महाराज ने तो यहाँ तक कहा है कि ये दोनों एक-दूसरे के आत्यन्तिक विरोधी हैं और एक में उन्नति का अर्थ दूसरे में कमी या अवनति है।"

एक साधक ने पूछा—'फिर यह तांत्रिक ऐसा क्यों मानते हैं?'

दाते साहब: तांत्रिक-विधान से परमार्थ की हानि अधिक और लाभ कम ही हुआ है। इससे परमार्थ साधन के नाम पर स्वैराचार को ही प्रोत्साहन मिल पाया है।

साधक: तो क्या प्रत्येक साधक के लिए अविवाहित रहना अथवा 'सेक्स' से दूर रहना नितान्त आवश्यक है?

दाते साहब: नहीं ऐसा भी नहीं है। मानवीय संवेगों और मूल प्रकृतियों का नियन्त्रण धीरे-धीरे और क्रम से ही होता है। अतएव जब तक यह नियन्त्रण प्राप्त न हो जाए तब तक जैसा St. Paul ने कहा है, 'It is better to marry than to burn with passion'; विवाह कर लेना ही उचित है। उससे परिमित और नियंत्रित तुष्टि (moderate satisfaction of sex) का अवसर मिलता है और इस प्रकार दबाये गए मनोवेगों से (suppression) होने वाली मानसिक विकृतियों का भी भय नहीं रहता। फिर यह याद रखना चाहिए कि नाम-स्मरण और रूपदर्शन रूपी ज्ञानाग्नि में यह मनोवेग जल से जाते हैं और उनसे कोई बाधा नहीं हो पाती।

साधक: तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि सभी साधकों के लिए विवाह करना आवश्यक है?

दाते साहब: नहीं, ऐसा भी नहीं है। यह साधक की स्थिति पर निर्भर करता है कि उसे विवाह करना भी चाहिए या नहीं। भाऊसाहेब महाराज ने अम्बुराव महाराज को इच्छा होते हुए भी दूसरा विवाह करने से रोक दिया, परन्तु रामभाऊ महाराज की इच्छा न होते हुए भी उन्हें दूसरा विवाह करना पड़ा। इससे यह स्पष्ट है कि एक साधक की आवश्यकता दूसरे साधक के समान नहीं होती और इसीलिए न तो सबको अविवाहित रहना ही आवश्यक है और न ही विवाह करना ही, आवश्यक यह है कि जिस स्थिति में नाम-स्मरण का साधन उत्तम प्रकार से हो सके उस स्थिति को परमार्थ के अनुकूल होने के कारण स्वीकार कर लेना चाहिए।

(52)
देव को कैसे भक्त पर अभिमान होता है?

मनाचे श्लोक में 'नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी' श्लोकों पर दाते साहब ने पूछा—'ऐसा भक्त किसे कहा जाये जिस पर स्वयं देव को अभिमान होता है?' और फिर स्वयं ही उत्तर देते हुए कहने लगे—

जो नाम-स्मरण करता है या जिसे रूप दर्शन होता है वह भक्त है ही, परन्तु इससे यदि उसमें अहंकार जागृत हो जाये तो भक्ति से च्युति हो सकती है। गुरु की सेवा करने वाला भी भक्त है, परन्तु उसकी सेवा श्लाघ्य तभी हो सकती है जब उसमें प्रदर्शन और अहंकार का लेश भी नहीं हो; नैतिकता, विद्या, बुद्धिबल आदि का तो अहंकार से

चोली-दामन का सम्बन्ध है, तब उस विद्वान या नैतिक आचरणयुक्त भक्त का अहंकार-ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक और साहजिक ही है। अतः प्रत्येक दृष्टि से अहंकार ही परमार्थ के शत्रु के रूप में सामने आता है। ऐसी स्थिति में अहंकार त्याग कर ही भक्ति की जा सकती है। जब भक्त अभिमान छोड़ता है, निरभिमानी होकर साधन और सेवा करता है, तब ऐसे निरभिमानी या निरहंकारी भक्त का ही देव को अभिमान होता है और वह अपने आपको ऐसे भक्त का ऋणी समझता है, उसका सर्व कार्य-भार देव अपने ऊपर ले लेता है। उसे ही वह अपना प्रिय और भक्तों का शिरोमणि समझता है। गुरु-कृपा से उसे ही देवतुल्य पदवी प्राप्त होती है, देवमान्य होने से जगमान्य भी हो जाता है। देवरूप होकर भी वह देव का दास या भक्त बना रहता है। ऐसे ही भक्त के लिए देव 'भक्ताभिमानी' या 'दासाभिमानी' बनता है। सारांश यह कि जब भक्त अभिमान छोड़ता है तब देव को उसका अभिमान लगता है।

(53)
जो यहाँ है वह और कहीं भी नहीं

दाते साहब जब पहले पहल जोधपुर आए थे तब उन प्रारंभिक वर्षों में उनके निकट संपर्क में आए व्यक्तियों में से एक व्यक्ति ऐसे भी थे जो उनका आदर तो बहुत करते थे परन्तु उनके पास टिक कर नहीं रह पाते थे। कुछ महीनों तक आते और फिर कई वर्षों तक

गायब। परन्तु उनकी एक विशेषता थी कि चाहे वे दाते साहब के यहाँ आयें अथवा नहीं, उनकी पारमार्थिक श्रेष्ठता को मुक्त-कंठ से स्वीकार करते थे और अन्य लोगों को भी कहते रहते थे। इतना ही नहीं अपने घर पर भी वे रामभाऊ महाराज के सम्प्रदाय में प्रचलित कार्यक्रम अर्थात् दासबोध, मनाचे श्लोक आदि का वाचन और निरूपण तथा नेम, भजन, आदि किया करते थे।

वैसे वह अपनी बुद्धि की कुशाग्रता, हृदय की उदारता और व्यवहार की सौजन्यता के कारण लोकप्रिय भी बहुत थे। उनका कई सन्त-महात्माओं से मिलना भी होता रहता था और उनमें से कुछ के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध भी हो गया था। समय-समय पर वे अनेक तीर्थ-स्थानों को, प्रसिद्ध मंदिरों को और कतिपय प्रसिद्ध मठों और आश्रमों को भी जाते रहते थे परन्तु फिर शायद उनको यह समझ में आ गया कि यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ घूमते रहने से कोई लाभ नहीं और इसीलिए एक दिन वे अकस्मात् दाते साहब के घर रविवार के कार्यक्रम में उपस्थित हो गए। प्रोग्राम शुरु होने में कुछ देर थी और इस संधि का लाभ उठाकर उन्होंने कहना शुरू किया—

'मैं बहुत घूमा-फिरा हूँ। भारत के चारों कोनों के तीर्थों की यात्रा मैं कर चुका हूँ। कई साधु-सन्तों और महात्माओं से मेरा निकट संपर्क रहा है। उनकी पूजा-विधि, साधन इत्यादि से भी मेरा अच्छा परिचय हो चुका है, परन्तु मुझे कहीं भी वह नहीं मिला जिसकी प्राप्ति की लालसा लेकर मैं वहाँ जाता था। न जाने क्यों मुझे लगता था कि मैं जो

चाहता हूँ वह इनके पास नहीं है। मुझे कहीं भी मानसिक शांति नहीं मिली, परमार्थ-लाभ नहीं हुआ। इस प्रकार सब ओर से निराश होकर फिर यहीं वापस आया हूँ। अब मैं जान गया हूँ कि जो मैं चाहता हूँ वह मुझे आपके पास (दाते साहब की ओर संकेत करके) ही मिलेगा। खरा परमार्थ केवल यहीं है और अब मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जो यहाँ है वह और कहीं नहीं है।'

तब दाते साहब ने उनसे कहा—'यदि तुम्हारा ऐसा अनुभव है और इस स्थान पर ऐसा विश्वास है तो फिर यहाँ टिक कर रहो और देखो महाराज तुम्हारे लिए क्या कुछ करते हैं।'

(54)
भाषा की शुद्धता का आग्रह

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दाते साहब भारत के शीर्षस्थ दार्शनिक चिन्तकों में से एक हैं। उनके ग्रंथ जो मुख्य रूप से आध्यात्मिक हैं, दार्शनिक दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। यद्यपि उनके सभी प्रमुख ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे गए हैं, उन्होंने महाराष्ट्रीय आध्यात्मिक साहित्य का हिन्दी रूपांतर भी प्रस्तुत किया है। परन्तु हिन्दी में ग्रंथ-रचना करते समय उन्हें हिन्दी के अनेक शब्दों का प्रचलित प्रयोग अशुद्ध व भ्रामक प्रतीत होता था और वे इस विषय में अपना मंतव्य अत्यन्त स्पष्ट और तर्कसम्मत ढंग से प्रस्तुत करते थे। हममें से कई हिन्दी-भाषा भाषी लोगों को यह आलोचना रुचती नहीं थी और हम

प्रयोग (usage) के आधार पर उन शब्दों के अर्थ का औचित्य ठहराते थे। परन्तु दाते साहब usage के स्थान पर भाव या विचार को सटीक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता को और व्याकरण की दृष्टि से भाषा की शुद्धता को महत्त्व देते थे। उदाहरण के लिए—

Mysticism के लिए हिन्दी में प्रचलित शब्द 'रहस्यवाद' है जो अंग्रेजी शब्द का अनुवाद है। दाते साहब कहते थे कि mysticism का अर्थ देव का प्रत्यक्ष दर्शन लेना है और जो प्रत्यक्ष है उसमें रहस्य क्या हो सकता है? जो साधक ईश्वर के नाना रूपों का दर्शन करते हैं उनको इसमें रहस्य जैसी कोई बात नहीं लगती। वास्तव में ईश्वर को इन आँखों से (स + अक्ष) देखना ही mysticism है और उसके लिए उपयुक्त शब्द 'साक्षात्कार' है न कि 'रहस्यवाद'।

इसी प्रकार 'Dark night of the soul' के लिए हिन्दी में 'विरहावस्था' शब्द का प्रयोग किया जाता है। दाते साहब कहते थे कि जब मिलन ही नहीं हुआ तो विरह कैसा? यह वह अवस्था है जिसे परमार्थ के प्रत्येक साधक को पार करना पड़ता है। शब्द रूपकात्मक न होकर तथ्यात्मक है, और जो इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं वे न जाने किस प्रेरणा से उसे विरहावस्था कहते हैं। तथ्य यह है कि साधक के जीवन में कुछ कालावधि के लिए ऐसी परिस्थितियां आती हैं कि वह अपने आपको चारों ओर से अन्धकार से घिरा हुआ पाता है और यह शब्द उस स्थिति का द्योतक है। अतः अनुभव की दृष्टि से इसके लिए उपयुक्त 'आत्मा की काली आमा' होगा न कि प्रचलित शब्द

'विरहावस्था'। ऐसे अन्य कई उदाहरण दिए जा सकते हैं परन्तु ये दो उनकी अनुभवपरक अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं।

इसी प्रकार व्याकरण की दृष्टि से भी कई शब्दों के भ्रामक प्रयोग की ओर वे हमें सचेत करते थे। अंग्रेजी के शब्द obedient के लिए हिन्दी में प्रचलित शब्द 'आज्ञाकारी' है। 'कारी' प्रत्यय का प्रयोग 'करने वाला' के अर्थ में होता है जैसे 'हितकारी' का अर्थ 'हित करने वाला' होता है। इस दृष्टि से आज्ञाकारी का अर्थ 'आज्ञा करने वाला' होगा न कि 'आज्ञा मानने वाला' और इसीलिए वे 'आज्ञाधारी' शब्द का प्रयोग करते थे।

जिन लोगों ने उनको काम करते देखा है वे जानते हैं कि किस प्रकार वे कई बार एक ही शब्द के सही अर्थ को जानने के लिए घंटों खर्च कर देते थे और विभिन्न शब्द-कोषों का अवलोकन करते थे। उनको इस प्रकार भ्रामक अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग कैसे उचित लग सकता था?

(55)
दो संतों का प्रेम-मिलन

सन् 1959। दाते साहब तब विष्णु भवन, जोधपुर में रहते थे। उनको अपने एक विद्यार्थी के माध्यम से यह ज्ञात हुआ कि जोधपुर में एक अन्य साक्षात्कारी संत, आइदान जी महाराज, निवास करते हैं और

उसी विद्यार्थी के प्रयत्न से दाते साहब और आईदान जी महाराज का प्रथम मिलन दाते साहब के घर पर हुआ। इस अवसर पर आईदान जी महाराज की 'संगत' (भजन गाने का कार्यक्रम), दाते साहब के निवास-स्थान पर होना निश्चित हुआ।

जिस दिन वे संत दाते साहब के घर आने वाले थे उस दिन दाते साहब ने सुबह जल्दी ही उनके स्वागत आदि की तैयारी कर ली और उनके आने के निश्चित समय से पाँच-सात मिनट पूर्व अपने निवास के मुख्य द्वार पर नंगे पैर, सिर पर टोपी, कमीज व कोट के हुक तक बटन लगाए उनकी अगवानी के लिए आकर खड़े हो गए।

उधर पब्लिक पार्क की मोड़ पर जब वे संत पहुंचे और जब उन्होंने दाते साहब को वहाँ खड़े देखा तो वे अपने शिष्यों सहित साईकिल से उतर गए और उस मोड़ से दाते साहब के घर तक की करीब एक फर्लांग की दूरी पैदल चलकर तय की। उधर दाते साहब दोनों हाथों को घुटनों के पास जोड़े, सिर नीचा किये, उनकी प्रतीक्षा में खड़े रहे।

जब दोनों एक दूसरे के आमने-सामने आ गये तब दोनों ही एक-दूसरे के चरण-स्पर्श कर नमस्कार करने के लिए झुके, परन्तु दोनों ने एक-दूसरे को बीच में ही आलिंगन-पाश में बांध लिया। दोनों एक-दूसरे से प्रेम से गले मिलने लगे।

इस स्नेह-मिलन के पश्चात् दाते साहब ने नम्रता से उनको घर में चलने की प्रार्थना की और इस प्रकार सभी लोग—आईदान जी

महाराज के साथ आये उनके शिष्य और दाते साहब के साथ उनके शिष्य—ऊपर कमरे में पहुंचे। वहाँ टेबल पर रामभाऊ महाराज का चित्र रखा था, संत महाराज ने उनको नमस्कार किया और दाते साहब के आग्रह पर आसन ग्रहण किया। तत्पश्चात् उन्होंने दाते साहब को कहा—'आपकी प्रासादिक वाणी सुनने का अवसर आज प्राप्त हुआ है। कुछ कहने की कृपा करेंगे क्या?' दाते साहब ने कहा—'आज हमारे यहाँ आप की संगत (भजन का कार्यक्रम) है। आज तो आपको ही प्रारम्भ करना पड़ेगा।'

आईदान जी महाराज: कैसे भजन सुनना आपको अच्छा लगेगा?

दाते साहब: कृपा करके कुछ ऐसे भजन सुनाइए जिससे मेरी गुरु-भक्ति बढ़े।

फिर संत महाराज के संकेतानुसार उनके शिष्यों ने व स्वयं उन्होंने अनेक अनुभवपरक पद सुनाये। बीच-बीच में संत उन भजनों की विषय-वस्तु पर कभी-कभी दो चार शब्द भी कहते थे। इस प्रकार यह कार्यक्रम घंटे-डेढ़ घंटे चला। रामभाऊ महाराज की आरती हुई जिसमें सभी ने साथ दिया और फिर प्रसाद वितरण हुआ। दाते साहब स्वयं आईदानजी महाराज के लिए प्रसाद ले गये जिसे उन्होंने मस्तक पर चढ़ा कर अत्यन्त विनीत भाव से ग्रहण किया।

जब संत वहाँ से प्रस्थान करने लगे तब दाते साहब फिर उसी प्रकार उनको पहुंचाने के लिए अपने निवास से कुछ दूरी तक आए।

दोनों फिर एक दूसरे से गले मिले और जाते समय जब तक दृष्टि से ओझल नहीं हो गए तब तक एक दूसरे को (मुड़-मुड़ कर) देखते रहे।

एक संत दूसरे संत का किस प्रकार आदर-सत्कार करता है यह इस संत-मिलन से स्पष्ट हो जाता है।

(56)
कर्महीन को सिद्धपण आएगा नहीं

कुछ लोग परमार्थ करने के बहाने व्यावहारिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते हैं तो कुछ अन्य व्यावहारिक जगत् के कार्यों में ही ऐसे लगे रहते हैं कि उनको अपने पारमार्थिक कर्त्तव्यों की सुध ही नहीं आती। इन दूसरे प्रकार के लोगों का कहना प्रायः यह होता है कि यदि वे परमार्थ को ही पूरा समय देते रहे तो उनके व्यावहारिक जगत् के कर्त्तव्यों को कौन पूरा करेगा? उनको दाते साहब कहते—"अरे बाबा, व्यावहारिक जगत् का काम तो तुम बिना किसी के कहे भी पूरा करोगे ही, परमार्थ कौन करेगा? यह प्रश्न अपने से पूछो। परमार्थ और प्रपंच इन दोनों में विरोध है ही नहीं। हमारे सम्प्रदाय की ही बात लो। रामभाऊ महाराज व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों ही कर्त्तव्यों को निपुणता से नहीं करते थे क्या? हमारे सम्प्रदाय में नाम-स्मरण के बाद कर्म और कर्म के बाद फिर नाम-स्मरण ऐसी व्यवस्था भाऊ साहब महाराज के समय से चली आ रही है। बाबा (अम्बुराव महाराज) ने मुझे कहा था—'दो घंटे नाम स्मरण करो और फिर लेक्चर दो, तुम्हारा लेक्चर भी उत्तम

होगा और नेम भी हो जायेगा।' नाम-स्मरण के बाद किया गया कर्म सुगम, उत्कृष्ट और शीघ्र फलदायी होता है यह ध्यान में रखना चाहिए। अतएव यदि दिन में समय नहीं मिले तो रात को नेम करो।"

दूसरे प्रकार के लोगों से वे कहते—"क्या तुम को भूख और प्यास नहीं लगती? क्या तुमको विश्राम और निद्रा की आवश्यकता नहीं होती? जब तुम देह की इन नाना विध-आवश्यकताओं की पूर्ति चाहते हो तो फिर उनके लिए आवश्यक कर्म करने से क्यों जी चुराते हो? याद रखो जब तक देह है, देह-भाव है तब तक कर्म करना भी आवश्यक है। जो अपना कर्त्तव्य—कर्म—करने से भागता है, जो उनको पूरा करने की चेष्टा नहीं करता, वह निठल्ला है, ऐसा व्यक्ति नाम-स्मरण या परमार्थ-साधन कैसे कर सकता है? वह ढ़ोंग करता है और इस प्रकार दुनिया को व अपने आपको धोखा देता है। एक अच्छे साधक के लिए ऐसा करना उचित नहीं। काम के समय काम और नेम के समय नेम नियमित रूप से करने से प्रपंच और परमार्थ दोनों में सफलता मिल सकती है। कर्महीन व्यक्ति को सिद्धपण कैसे आ सकता है? जिसका इहलोक ही व्यवस्थित नहीं वह परमार्थ क्या करेगा?"

इस प्रकार नेम का अभ्यास करते-करते एक दीर्घकाल के पश्चात् जब साधक देहभान बिसर जाता है, तब ही कर्मशून्यता साहजिक रूप से आ जाती है; उसके पूर्व अपना कर्त्तव्य, प्रपंच और परमार्थ, दोनों में ही करना उचित है।

(57)
ईर्ष्या मत करो, भावपूर्वक नाम-स्मरण करो

एक बार रविवार के कार्यक्रम में दाते साहब ने एक साधक का नाम-संकेत करते हुए कहा—'इतने लंबे समय में यही एक व्यक्ति है (व्यक्ति का नाम लेकर कहा) जो देव-दर्शन की इच्छा से यहाँ आया है, अन्य लोग किसी न किसी कामनावश ही यहाँ आते हैं।' कुछ अन्य साधकों को यह बात बुरी लगी और वे दबी जबान से कहने लगे—'क्या वे ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो देव-दर्शन के लिए यहाँ आये हैं? क्या हम देव-दर्शन नहीं चाहते? यदि ऐसा ही होता तो फिर हम सब यहाँ आते ही क्यों?'

इसी प्रकार एक अन्य सज्जन कुछ ही समय पूर्व दाते साहब के सम्पर्क में आये थे, परन्तु अपने भाव और भक्ति के कारण उनके प्रिय बन गए थे। दाते साहब का उनके लिए विशेष प्रेम था और वह उनकी प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से करते थे। यह भी कुछ साधकों को रुचा नहीं। वे कहते—'अभी चार दिन पहले तो आये हैं और आज बड़े साधक बन गये। हम इतने वर्षों से साधन कर रहे हैं उसका कुछ भी नहीं।'

जब दाते साहब को इसका पता चला तब उन्होंने रविवार के कार्यक्रम में एक दिन कहा—"परमार्थ में प्रगति के लिए कालावधि का इतना महत्त्व नहीं है जितना भाव का। दीर्घकाल से नाम-स्मरण करने वाले पीछे रह जाते हैं और नवीन साधक भाव के बल पर आगे निकल

जाते हैं। ऐसे साधकों से ईर्ष्या करने से या उनको नीचा दिखाने का प्रयत्न करने से ईश्वर कैसे प्रसन्न हो सकता है? 'मैं इतने वर्षों से साधन करता हूँ, या मैं पाँच-पाँच छः-छः घंटे साधन करता हूँ इसलिए श्रेष्ठ साधक हूँ', ऐसा सोचना भूल है। आपका कर्त्तव्य साधन करना है, वह करिए। साधन की सफलता देव की इच्छा पर निर्भर करती है और देव भाव का भूखा है। अतः उनके प्रति प्रेम, आदर और शरणागति का भाव अधिकाधिक हो ऐसा प्रयत्न कीजिए। दूसरों से व्यर्थ ईर्ष्या कर अपनी हानि करना उचित है क्या?

इसके अतिरिक्त दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ईर्ष्या करके हम स्वयं अपनी हानि करते हैं, जिससे हम ईर्ष्या करते हैं उसका कुछ भी बिगड़ता नहीं। मान लो किसी के पास कार है और हमारे पास नहीं। लेकिन उससे ईर्ष्या करने से क्या लाभ? हमको कार तो मिलेगी नहीं, उल्टी जलन होगी, मन अशान्त होगा और साधन में विघ्न पड़ेगा। उधर जिसके पास कार है वह उसी ठाठ से कार में घूमता रहेगा। अतएव ईर्ष्या न करके यदि हम यह सोचें कि परमेश्वर जानता है कि किसको किस वस्तु की आवश्यकता है और तदनुसार उसे वह दे देता है, तो जो कुछ हमारे पास है उससे संतुष्ट रहने की वृत्ति निर्मित होगी और परमेश्वराश्रित भाव के कारण परमार्थ में भी प्रगति होगी।

क्या हम साधकों को स्वयं अपने हित में ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणों को छोड़कर देव की भक्ति करना योग्य नहीं है?"

(58)
उपाधि-नाश का उपाय—'नेम'

एक बार जोधपुर के कुछ गणमान्य चिकित्सक महोदय, जिनका दाते साहब से अच्छा परिचय था, एक गेरुआ वस्त्रधारी सज्जन को लेकर दाते साहब के घर आये। वे सज्जन अपने आपको 'महामण्डलेश्वर' बताते थे, परन्तु वास्तव में थे या नहीं इसका पता नहीं लग सका। दाते साहब सदैव ही गेरुआ वस्त्र के प्रति आदर प्रकट करते थे और इसीलिए उन्होंने उस सज्जन के प्रति भी आदर प्रकट किया। उस सज्जन ने भी दाते साहब की पारमार्थिक योग्यता की प्रशंसा में पुल बांधने शुरू कर दिये।

परिणाम स्वरूप वे सज्जन प्रायः प्रतिदिन ही दाते साहब के यहाँ आ पहुँचते। उनके इस प्रकार के आगमन से दाते साहब के नियमित कार्यक्रम में बाधा उत्पन्न होने लगी और माताजी को भी कभी चाय-दूध तो कभी नाश्ता इत्यादि तैयार करने में व्यस्त रहना पड़ता जिससे उनके नियमित कार्यों में भी विघ्न आने लगा। सज्जनतावश दाते साहब उनको कुछ कह नहीं पाते थे और वे थे कि आना छोड़ते ही नहीं थे।

अन्त में दाते साहब ने एक निराला उपाय सोचा। जब वे सज्जन आते दाते साहब उनको लेकर 'नेम' में बैठने के लिए ऊपर के कमरे में चले जाते। पहले दो-चार दिन तो वे सज्जन नेम में बैठने लगे परन्तु उसमें भी थोड़ी-थोड़ी देर बाद उठ कर बाहर चले जाते और जब दाते

साहब को आसन से उठते नहीं देखते तो फिर आकर बैठ जाते। परन्तु शीघ्र ही वह नेम के इस कार्यक्रम से थक गये और अंत में उन्होंने दाते साहब के यहाँ आना ही छोड़ दिया। इसी प्रसंग की चर्चा करते समय कई बार दाते साहब कहते—

"ये उपाधियां हैं जो परमार्थ में बाधा उत्पन्न करने के लिए ही आती हैं। उनसे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय 'नेम' और 'अधिक नेम' करना ही है। नेम में बैठते ही मण्डलेश्वर महाराज को 'तलमल' लगती, कभी बैठते, कभी उठते और कभी तम्बाकू खाने के लिए बाहर जाते। परन्तु ऐसे कितने दिन चलता। आखिर 'नेम' के इस कठिन कार्य से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने यहाँ आना ही छोड़ दिया। अच्छा ही हुआ। उपाधि-नाश का सरल उपाय 'नेम' ही है।"

(59)
भरोसा और शरणागति

एक बार रविवार के कार्यक्रम में परमार्थ-सोपान में से तुलसीदास जी का यह दोहा—'एक भरोसो, एक बल, एक आस, विश्वास' के पढ़े जाने के बाद दाते साहब ने पूछा—"बाबा, 'भरोसे' और 'विश्वास' में क्या अंतर है?"

एक साधक ने कहा—'दोनों समानार्थी ही हैं साहब।'

दाते साहब: तो दोनों का प्रयोग तुलसी ने एक ही चरण में क्यों किया? उनके जैसे विद्वान, उत्कृष्ट कोटि के संत-कवि बिना किसी विशेष प्रयोजन के पुनरावृत्ति क्यों करेंगे?

साधक: सामान्य रूप से तो दोनों को एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं।

दाते साहब: अरे बाबा, 'भरोसे' में dependence (आश्रित होने) का भाव (sense) है और 'विश्वास' में faith (आस्था) का। ये दोनों ही चाहिए तभी भक्ति में गति आती है। फिर भी इन दोनों में अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है—भरोसा या विश्वास?

साधक: मुझे भरोसा (dependence) ही अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है क्योंकि 'भरोसे' में विश्वास (faith) का अन्तर्भाव रहता है।

दाते साहब: बराबर है। देव पर ही आश्रित रहने का भाव जब जागृत होता है तो उसका अर्थ ही यह है कि उसको देव की दयालुता पर पूरा विश्वास है, एक दृष्टि से इसे शरणागति का प्रथम सोपान भी कह सकते हैं।

(60)
सत्य को प्रकट करने में हिचकिचाहट क्यों?

एक बार रविवार के कार्यक्रम में दाते साहब ने कहा—'श्री अरविन्द महाराज ने नवीन कुछ भी नहीं कहा है। केवल बड़े-बड़े

नवीन शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु superamentalism या earth consciousness जैसे बड़े शब्दों से डरने की कोई आवश्यकता नहीं। Superamentalism ने तुर्या अवस्था का और earth consciousness ने देहभान का स्थान लिया है। इनके द्वारा प्रकट स्थितियों से हमारे सम्प्रदाय के साधक परिचित हैं। फिर शब्दों में रखा ही क्या है?'

श्री अरविन्द महाराज के विषय में दाते साहब का यह कथन एक साधक को अच्छा नहीं लगा और उसने कहा—'श्री अरविन्द विश्वविख्यात योगी और संत हैं, उनके लिए हम इस प्रकार कैसे कह सकते हैं?'

साधक के कथन में किंचित व्यंग्य था। दाते साहब गंभीर हो गए और कहा—'तुमने अरविन्द महाराज को पढ़ा है?'

साधक: हाँ थोड़ा बहुत पढ़ा जरूर है और उससे मुझ पर उनकी महानता प्रकट हो गई थी।

तब दाते साहब ने एक अन्य साधक को, जो वहाँ उपस्थित था, पूछा—'अमुक व्यक्ति ने अपने Ph.D. (शोध) के लिए कौन सा विषय चुना था?'

अन्य: श्री अरविन्द की दार्शनिक विचारधारा।

दाते साहब: अरे नहीं बाबा, श्री अरविन्द और श्री विवेकानन्द का तुलनात्मक अध्ययन।

अन्य: हाँ सर, यही विषय था।

दाते साहब: उसका guide कौन था?

अन्य: आप ही थे, सर।

दाते साहब: तुमने उसमें क्या कार्य किया था?

अन्य: मैंने अरविन्द महाराज की पुस्तक Life Devine पर notes तैयार किए थे।

दाते साहब: Notes कैसे तैयार किये? कहो ना बाबा, सब कुछ details (विस्तृत रूप) में कहो।

अन्य: मुझे Life Divine पर notes तैयार करने का आपने ही कहा था। मैंने जब काम शुरू किया तो मुझे वह पुस्तक अत्यन्त कठिन लगी। बीस-पच्चीस पृष्ठ पढ़ जाने पर भी मेरे ठीक-ठीक समझ में कुछ भी नहीं आया। तब मैंने आपसे अपनी कठिनाई स्पष्ट कर दी। तत्पश्चात् दस-बारह दिन तक प्रतिदिन आप स्वयं साथ बैठते और Life Divine के आशय को स्पष्ट करके समझाते। जब मुझे अरविन्द महाराज का आशय स्पष्ट होने लगा तो फिर मैंने दोनों volumes के notes तैयार करके आपको दिखाये।

यह सुनकर वह साधक थोड़ा नम्र हो गया। उसने कहा—'क्षमा कीजिए। मैंने आपके ज्ञान के विषय में शंका प्रकट नहीं की थी।'

दाते साहब उसके मनोगत भाव को समझ गए। उन्होंने कहा—'प्रश्न शंका करने या शंका नहीं करने का नहीं है। सत्य सत्य ही होता है और उसको प्रकट करने में कभी भी हिचकिचाना नहीं चाहिए। अरविन्द महाराज बड़े हैं, परन्तु सत्य की खोज ने ही तो उन्हें बड़ा बनाया है तो क्या सत्य उनसे भी बड़ा नहीं हुआ? ऐसा मत समझो कि अरविन्द महाराज के लिये मेरे मन में आदर नहीं है, मैं प्रतिदिन प्रातःकाल उनकी पुस्तक 'The Mother' की कुछ पंक्तियां पढ़ता हूँ और उन पंक्तियों को पढ़े बिना पानी की एक बूंद तक गले से नीचे नहीं उतारता। (पुस्तक The Mother उठा कर दिखाते हुए) यह पुस्तक स्वयं अरविन्द महाराज ने मुझे भेजी थी, इसमें उनका आशीर्वाद भी है। पढ़ो क्या है?'

साधक: (जोर से पढ़ते हुए) To Vinayak, with blessings, Sri Aurbindo.

दाते साहब: यह स्वयं अरविन्द महाराज के हाथों से लिखा हुआ है। फिर भी जब सत्य कथन का प्रसंग आता है तब बिना किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट के उसे प्रकट करना ही पड़ता है। मुझे पूरा विश्वास है कि श्री अरविन्द महाराज इससे प्रसन्न ही होंगे।

वह साधक अब तक पूरी तरह लज्जित हो चुका था। उसने कहा—'मुझसे भूल हो गई। मुझे क्षमा कर दीजिए।'

(61)
'स्वधर्म' का अर्थ आत्म-धर्म

सामान्यत: 'स्वधर्म' का अर्थ हम अपना धर्म लगाते हैं और कभी नैतिकता की दृष्टि से उसे कर्त्तव्य के अर्थ में तो कभी ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म आदि नाना पंथों के अर्थ में उसका प्रयोग करते हैं। दाते साहब प्रायः कहा करते थे कि यह 'धर्म' का अत्यन्त संकीर्ण अर्थ है और उनके अनुयायियों में कट्टरता और संकीर्णता उत्पन्न करता है। शैवों और वैष्णवों के, सगुणपंथी और निर्गुणपंथी के अथवा हिंदू और मुसलमानों के विवाद के मूल में यही संकीर्णता है। गीता इस संकीर्णता से बहुत ऊपर है और जब कृष्ण 'स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह:' कहते हैं तब उनका आशय न तो किसी पंथ-विशेष के आग्रह से है और न ही केवल क्षत्रिय धर्म के पालन से। वे तो मानव-मात्र के लिए समान रूप से उपलब्ध 'आत्म-धर्म' की ओर संकेत करते हैं।

समर्थ स्वामी रामदास के अनुसार भी 'स्वरूपी राहाणे हा स्वधर्म' अर्थात् स्वरूप या आत्मरूप में स्थित रहना यही स्वधर्म है। गीता के अनुसार भी स्वधर्म से तात्पर्य आत्मधर्म ही है। आत्मन् को प्राप्त करना, उसका दर्शन लेना, उसके साथ संभाषण करना यही स्वधर्म है और

इस स्वधर्म के पालन में देहपात भी हो जाए तो परवाह नहीं करनी चाहिए। आत्मधर्म या आत्म-प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न कभी निष्फल नहीं जाता, उसका पूरा लाभ जन्मान्तर में भी प्राप्त होता है। इसके विपरीत 'परधर्म' का अर्थ 'अनात्मा की पूजा' है। आत्मन् को छोड़कर जो कुछ है वह 'पर' है और वह संसार-बंधन का कारण होने से भयावह है।

इस प्रकार गीता ने आदेश दिया है कि नीतियुक्त आचरण और आत्म-प्राप्ति का साधन यही 'स्वधर्म' है और इसकी प्राप्ति ही मानव जीवन की सफलता का सूचक है। इसका पालन करने में ही मानव जीवन की सार्थकता है, यही हमारा मानव मात्र का स्वधर्म है। उसे छोड़कर अन्य 'अनात्म वस्तुओं' के पीछे लगना संसार-भय को निमन्त्रण देना है। इसकी सफलता के लिए सद्गुरु की शरण जाकर, उनसे नाममंत्र लेकर, अहोरात्र उसका प्रेमादर से स्मरण करना आवश्यक है। इसीलिए भगवान ने अर्जुन को 'मामेकं शरणं ब्रज' 18/66 और 'मामनुस्मर युध्य च' 8/7 ऐसा उपदेश दिया था।

(62)
गुरु उपकार करता है परन्तु शिष्य को पता नहीं चलता

'जेची क्षणीं अनुग्रह झाला। तेची क्षणीं मुक्त केला। बंधन कैंचा आत्म्याला। बोलोची नये॥' दासबोध अर्थात् गुरु जिस क्षण अनुग्रह करता है शिष्य उसी क्षण मुक्त हो जाता है। आत्मा को बंधन कैसा?

इस पर एक साधक ने पूछा—'जब अनुग्रह होते ही, नाम-मंत्र मिलते ही, साधक मुक्त हो जाता है तो इसका पता साधक को क्यों नहीं लगता?'

दाते साहब: नाम मिलते ही साधक मुक्त हो जाता है यह तात्त्विक सत्य है, सिद्धांत की बात है। 'मैं मुक्त हुआ हूँ' ऐसा जानने के लिए साधन की आवश्यकता है।

साधक: जिस मुक्ति का मुझे ही पता नहीं लगता वह कैसी मुक्ति है? मैं मुक्त हो गया और मैं नहीं जानता कि मैं मुक्त हो गया हूँ।

दाते साहब: गुरु जब नाम देता है तब वह साधक का सम्बन्ध देह से विच्छेद कर आत्मा के साथ जोड़ देता है। वास्तविकता यह है कि गुरु उपकार करता है परन्तु शिष्य को पता ही नहीं चलता कि उस पर इस

प्रकार उपकार किया गया है। साधक को इसका ही पता लगाने के लिये साधन-अभ्यास करना पड़ता है।

साधक: गुरु ऐसा क्यों करता है, सर?

दाते साहब: अरे बाबा, क्या सब कुछ गुरु को ही करना चाहिए? क्या साधक का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है? जो साधन करने का कष्ट लेना नहीं चाहते वे ही ऐसा कहते हैं। फिर तुम यह क्यों भूलते हो कि स्वयं साधन का कष्ट करके जो अनुभव और ज्ञान प्राप्त किया जाता है उनका महत्त्व और मूल्य दोनों ही साधक के समझ में आने लगते हैं। पता है न, भाऊ साहब महाराज ने किसी एक साधक को उसके अत्यन्त आग्रह पर आत्मानुभव प्रदान कर दिया, परन्तु उसका निर्वाह उस साधक से हुआ नहीं। वह कहता था, 'यह भूत की तरह मेरे सामने बैठा रहता है, मुझे क्या लाभ?' उसने आत्मरूप को 'भूत' कहा और स्वयं 'भूत' हो गया। इसलिए साधन का कष्ट लेकर गुरु के द्वारा किए गए उपकार का पता लगाना चाहिए।

(63)
परन्तु गुरु ऐसा करे क्यों?

कई बार हम 'शक्तिपात' की चर्चा सुनते हैं। यह शक्तिपात अनेक प्रकार से किया जाता है, परन्तु ऐसा करने में गुरु का आग्रह नहीं रहता। इसी पर एक बार चर्चा चल पड़ी।

बात सन् 1961 की है। दाते साहब तब जयपुर में थे। एक दिन शाम को श्री अरविन्द महाराज के पत्र पढ़े जा रहे थे। एक साधक पत्र पढ़ रहा था और दाते साहब उनमें निहित गूढ़ार्थ को स्पष्ट कर रहे थे। एक पत्र में ऐसा प्रसंग भी आया कि श्री अरविन्द महाराज जब किसी को पत्र भेजते थे तो उसके साथ Power (शक्ति) लगी होती थी जिससे उस व्यक्ति का पारमार्थिक कल्याण होता था। दाते साहब ने इस प्रसंग में कहा—'संतो के पत्र, मात्र पत्र नहीं होते, वे तो शक्तिपुंज ही होते हैं जो साधक को उसकी पारमार्थिक प्रगति में संबल प्रदान करते हैं।' और फिर हँसते हुए कहा—'हम भी पत्र के साथ Power भेजते हैं परन्तु वह rebound होकर हमारे पास ही लौट आती है। और तब लगता है कि ऐसे शक्ति भेजने से क्या लाभ?'

इस पर एक साधक ने पूछा—'तो क्या शिष्य शक्ति को वापिस भेज सकता है?'

दाते साहब: गुरु द्वारा प्रेषित इस शक्ति को स्वीकार करने या अस्वीकार करने को साधक स्वतन्त्र है, और इस प्रकार अस्वीकृत की गई शक्ति वापस आयेगी ही। जिस प्रकार पत्र के साथ भेजी गई शक्ति का शिष्य पर प्रभाव होता है वैसे ही rebound होकर आने वाली शक्ति का गुरु को भी पता लगता है।

अरे, दीवाल पर गेंद को जोर से मारो तो वह वापिस आएगी ही, परन्तु उसी गेंद को कपास (रूई) के ढेर पर मारो तो उसमें ही समा जाएगी।

ठीक ऐसे ही अपात्र को भेजी गई शक्ति लौटकर आती है, परन्तु सुपात्र उसे हृदयंगम कर लाभ उठाता है।

साधक: तो क्या गुरु उस साधक को यह शक्ति स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता?

दाते साहब: कर सकता है, परन्तु वह ऐसा करे क्यों?

(64)
अनुभव आधारित निरूपण

दाते साहब के निवास पर आयोजित रविवार के कार्यक्रम साधकों के लिए अनेक प्रकार से महत्त्वपूर्ण होते थे। उनके व्यक्तित्व का आकर्षण, उनकी वाणी का सम्मोहन और निरूपण-शैली की प्रभावोत्पादकता सभी मिलकर इन कार्यक्रमों को एक अपूर्वता प्रदान करते थे जो अन्यत्र शायद ही कहीं मिल सकती हो।

दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक होने के उपरान्त भी ऐसे दार्शनिक सिद्धांतों को जो अनुभवगम्य नहीं होते थे वे अधिक महत्त्व नहीं देते थे। पुनर्जन्म, मृत्यु के पश्चात् का जीवन, सृष्टि-रचना या सृष्टि-प्रलय ऐसे ही कुछ विषय हैं जिनके विषय में वे कहते कि पूर्वजन्म को जानकर हमें क्या करना है? आगे कौन सा जन्म आएगा या ऐसा जन्म आएगा भी या नहीं इस पर विचार करने से हमें क्या लाभ होगा? अरे, इस जन्म को सार्थक कैसे करना उसका विचार करो, सृष्टि रचना कब और कैसे

हुई और प्रलय काल में क्या स्थिति होगी इससे यह जीवन कैसे सफल बनाया जा सकता है? अतः उनका निरूपण सदैव ही अनुभव पर आधारित होता था। उदाहरण के लिए एक प्रसंग यहाँ दिया जाता है।

दासबोध के दशक 11 समास 1 की प्रारम्भिक पाँच ओवियें सृष्टि की रचना किस प्रकार हुई इसका संकेत करती हैं। दाते साहब निरूपण के प्रारम्भ में ही कहते—'पहले अग्नि का निर्माण हुआ या जल का, अथवा प्रलय में कौन-सा तत्त्व किसमें मिलेगा यह जानकर हमें क्या लाभ होने वाला है? सृष्टि की उत्पत्ति के समय हम थे नहीं और उसके प्रलय काल तक हमारे जीवित रहने की संभावना नहीं। अतएव ऐसे विषयों की चर्चा काल्पनिक होने से बौद्धिक विलास मात्र है। एक साधक को अनुभव की दृष्टि से विचार करना चाहिए और अनुभव के लिए जो उपयोगी पड़े उसे स्वीकार करना चाहिए।

सृष्टि कब बनी और कैसे बनी, या प्रलय कब होगा और कैसे होगा यह कहना असंभव है, परन्तु नेम का अभ्यास करते समय इन पांचों भूतों की गति-स्थिति का जो अनुभव आता है वह अवश्य अनुभवगम्य है। जब एक साधक नेम के लिए बैठता है तब श्वासोच्छवास के साथ नाम-स्मरण करने से देह में नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे तक वायु का संचार होता है। वायु के इस प्रकार के चढ़ने उतरने से देह में गर्मी आती है। जब कुछ समय तक यह प्रक्रिया चलती है तब देह से स्वेद-कण छूटते हैं और समस्त देह शीतल हो जाता है। ध्यान की एकाग्रता बढ़ने के साथ ही श्वासोच्छवास की प्रक्रिया मन्द से मन्दतर होती जाती

है और कुछ समय पश्चात् श्वास गतिशील भी है या नहीं साधक को इसका भी भान नहीं रहता। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि पृथ्वी तत्त्व का लय अग्नि तत्त्व में, अग्नि तत्त्व का लय जल तत्त्व में और जल तत्त्व का लय वायु तत्त्व में हो जाता है। धीरे-धीरे वायु का भान भी नहीं रहता और तब केवल आकाश रह जाता है। साधक की ध्यान की इस अवस्था में देह-भान विस्मृत हो जाता है और वह आकाश तत्त्व अर्थात् हृदयाकाश में स्थित रहता है। वहाँ इन पंचभूतों से परे जो आत्म-तत्त्व है उसका दर्शन कर, उससे एक रूप होकर आकाश तत्त्व को भी पीछे छोड़ देता है और पंचभूतातीत परम तत्त्व आत्मन् से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

इस प्रकार ध्यान की प्रक्रिया से—नाम-स्मरण करते समय—अनुभव के आधार पर तत्त्व-निरसन का विवेचन हमारे स्वानुभव का अंग बन जाता है।'

(65)
नाना परि वारित से
(गुरु नाना प्रकार से रक्षण करता है)

जैसे सूर्य की उपस्थिति मात्र से समस्त जगत् प्रकाशित हो जाता है और नाना क्रिया-कलाप स्वतः ही प्रारम्भ हो जाते हैं वैसे ही संत की उपस्थिति मात्र से लोक-संरक्षण और लोक-कल्याण स्वतः ही होता

रहता है। दाते साहब कई बार कहते थे कि जब तक ज्ञानेश्वर महाराज रहे तब तक रामचन्द्रराय का शासन अक्षुण्ण रहा, परन्तु उनके समाधि ले लेने के पश्चात् वहाँ मुसलमानों का शासन हो गया। छत्रपति शिवाजी महाराज को समर्थ स्वामी रामदास का संरक्षण प्राप्त था इसीलिए वे महाप्रतापशाली मुगल सम्राट औरंगजेब के चंगुल से छूट गये और महाराष्ट्र राज्य की स्थापना कर सके। वैसे ही रजाकारों ने निंबाल रेलवे स्टेशन तक को आग लगा दी थी मगर रामभाऊ महाराज का आश्रम सुरक्षित ही रहा, वहाँ तक रजाकारों में से कोई गया ही नहीं। ऐसा संरक्षण प्रदान करने की बात दाते साहब पर भी लागू होती है और इसके कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

एक बार जोधपुर से कुछ साधकों सहित दाते साहब मेटाडोर गाड़ियों से मथुरा, वृन्दावन आदि स्थानों की यात्रा पर गये। जब मथुरा से लौटने का समय आया तब तक दिन ढलने लग गया था। मथुरा से भरतपुर तक का मार्ग सुरक्षित नहीं था, डकैतों का भय रहता था। परन्तु पूरी जल्दी करने पर भी मथुरा से रवाना होते होते संध्या ढलने लग गई। डकैतों का भय सबके मन में था ही, परन्तु जैसे-तैसे भरतपुर तक की यात्रा कुशलतापूर्वक हो गई और सबने चैन की सांस ली। भरतपुर रात को करीब नौ बजे पहुंचे थे और वहाँ सड़क के किनारे एक ढाबे पर भोजन करने के लिए ठहर गए। साधक लोग भोजन कर ही रहे थे कि समाचार आया कि दाते साहब की गाड़ियों के पीछे-पीछे ही जो कार आ रही थी उसे डाकुओं ने घेर लिया, यात्रियों के साथ

दुर्व्यवहार किया और उनका सब समान लूट कर ले गये। समाचार सुनकर सभी हक्के-बक्के रह गये। यदि ये ही डाकू बीसेक मिनट पहले आ जाते तो उन सबकी क्या दशा होती? उनके साथ स्त्रियां और बच्चे भी थे और डाकुओं के हाथों उनकी क्या दशा होती इस कल्पना से सब सिहर उठे। चमत्कारिक ढंग से सबका रक्षण हो गया।

इसी प्रकार एक बार जोधपुर से पूरी बस भर के साधक मंडली निंबाल के लिए रवाना हुई। दाते साहब और माताजी (मिसेज दाते) भी साथ थे। बम्बई तक की यात्रा सकुशल हो गई। बम्बई और पूना के बीच में घाट और चढ़ाई है जहाँ अनेक बार भयंकर दुर्घटनाएं हो जाती हैं। कार हो, या बस या ट्रक, एक बार फिसली तो सीधे नीचे घाटी में गिर कर चकनाचूर होने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता। जब जोधपुर की बस चढ़ाई पर चलने लगी तो उसमें कुछ खराबी हो गई है ऐसा अनुमान उसके चलने के ढंग से लगने लगा था, परन्तु बीच चढ़ाई में बस रोकना खतरे से खाली नहीं था और ड्राइवर आश्वस्त था कि वह पूरी चढ़ाई पार कर लेगा, परन्तु आधी चढ़ाई ही पार की होगी कि engine fail हो गया । अब सबसे बड़ा खतरा गाड़ी का पीछे की तरफ लुढ़क कर नीचे घाटी में गिर जाने का था और यदि ऐसा हो जाता तो कितनों के प्राण जाते यह बताना भी कठिन था। एकबारगी सभी यात्रियों का मुंह भय से विवर्ण हो गया, परन्तु कुछ उत्साही साधक लपककर नीचे उतरे और पिछले पहियों का मार्ग

चक्कों के पास बड़े-बड़े पत्थर रखकर अवरुद्ध कर दिया और इस प्रकार एक भीषण दुर्घटना होने से बच गई।

यात्रा में जो साधक गए थे वे सभी इस पर आश्चर्य प्रकट करते थे कि Engine fail होते ही गाड़ी पीछे की तरफ लुढ़कने क्यों नहीं लगी? कुछ सेकेंडों के लिए भी हो, आखिर वह यथास्थान रुकी कैसे रह गई। नि:सन्देह ऊपर वर्णित दोनों ही घटनाओं में दाते साहब की उपस्थिति से ही सब के प्राणों की रक्षा हुई है ऐसा सभी साधक विश्वास करते हैं परन्तु दाते साहब ने दोनों ही बार 'गुरुदेव की दया से हम सब बच गए हैं', ऐसा ही कहा।

(66)
तुम्हें दिखाई देने वाली 'वस्तु' तुम्हारा ही रूप है

एक बार एक साधक ने दाते साहब से पूछा—"सर, कहते हैं कि जो 'वस्तु' हम देखते हैं वह हमारा ही रूप है। मैं यह टेबल देखता हूँ तो क्या यह टेबल मेरा रूप है?"

दाते साहब: इस प्रश्न के दार्शनिक पक्ष को एक बार छोड़कर यदि शुद्ध परमार्थ की दृष्टि से देखें तो साधन करते-करते गुरु कृपा से जो रूप आपके सामने आता है वह आपका ही रूप है ऐसा सभी सन्तों

का अनुभव है। वैसे व्यावहारिक जीवन में भी किसी न किसी अर्थ में मैं जिस वस्तु को देखता हूँ उससे एक रूप होता ही हूँ।

साधक: परमार्थ की ही बात लें। साधन करते-करते बिंदु, ज्योति, या अन्य कोई रूप दिखाई देता है, परन्तु वे उस साधक का रूप कैसे हो सकते हैं?

दाते साहब: देव ज्योतिरूप है, अतएव जो ज्योति या ज्योतिर्मय 'वस्तु' आप देखते हैं वह देव का ही रूप है। अब वह देव साधक के हृदय में ही स्थित है और वही बाहर आकर भी दिखता है। जैसे अन्दर है वैसा ही बाहर भी है, अतः जो ज्योतिर्मय रूप वह देखता है वह उसका ही रूप हुआ।

साधक: बिंदु, ज्योति आदि देखने वाला साधक कहेगा कि वह बिंदु या ज्योति देखता है परन्तु वे उससे अभिन्न हैं या वे उसका ही रूप हैं ऐसा तो वह नहीं कहता।

दाते साहब: परन्तु वही साधक जब स्वयं अपनी देहाकृति ज्योतिर्मय रूप में देखेगा तब क्या कहेगा?

साधक: 'मैं अपना ही रूप देखता हूँ', ऐसे ही कहेगा।

दाते साहब: फिर ऐसी दशा में सामने दिखने वाला उसका अपना रूप–आत्मन् और उसको देखने वाला उसके हृदय में स्थित उसका रूप–आत्मन् भिन्न-भिन्न कैसे हो सकते हैं? अरे, भौतिक प्रकाश को

ही देखो, दीपावली पर उसे कितने आकार-प्रकारों में सजाया जाता है, परन्तु है तो वह प्रकाश ही। शक्कर के हाथी, घोड़े आदि बनाए जाते हैं, परन्तु है तो वह शक्कर ही। ठीक यही बात आत्मन् पर भी लागू होती है। आत्मन् ही नाना रूपों और आकारों में साधक के सम्मुख प्रकट होता है परन्तु है तो वह आत्मन् ही। अतएव ऐसा प्रत्येक दर्शन अपने ही रूप का दर्शन है ऐसा ही कहा जाएगा।

(67)
यह अनुभव क्या है?

सन् 1984 के दिसम्बर मास की बात है। इन दिनों दाते साहब का स्वास्थ्य विशेष अच्छा नहीं रहता था। उसके थोड़े समय पूर्व ही उनको रक्त-वमन हो चुका था और दो बार नेत्रों का ऑपरेशन भी, दृष्टि भी काफी मंद हो चली थी। ऐसी स्थिति में एक बार घूमने जाते समय उन्होंने अपने साथ के शिष्य को कहा—'मेरे पहले के सभी अनुभव गायब हो गये हैं। ऐसा क्यों हुआ?'

साथ वाला व्यक्ति क्या उत्तर देता, वो चुप रहा। थोड़ी देर चलने के बाद वे फिर बोले—'अब तो मुझे केवल ऐसा आकार दिखता है' और छड़ी की सहायता से भूमि पर एक अस्पष्ट सी आकृति बनाई जो उस शिष्य को किसी पक्षी की आकृति की तरह लगी। उसने कहा—'यह हंस की तरह दिखता है क्या, सर?'

दाते साहब: नहीं बाबा, क्या है कुछ स्पष्ट पता नहीं लगता।

शिष्य: सर, क्या यह संभव नहीं कि अब तक के समस्त अनुभवों का वह cumulative effect (समुच्चय) हो।

दाते साहब: कौन जाने?

कुछ दिनों के बाद फिर इसी तरह घूमने जाते समय दाते साहब ने फिर वही विषय छेड़ दिया और कहा—'पहले जो आकृति अस्पष्ट सी दिखाई देती थी वह अब स्पष्ट होती जा रही है। मुझे यह आकृति विमान सदृश लगती है और मुझे लगता है कि इसमें कोई एक आदमी बैठा हुआ है।'

शिष्य: वह कौन है, सर?

दाते साहब: मैं पहचान नहीं सकता, केवल आदमी की सी आकृति दिखती है, परन्तु वह आदमी कौन है पता नहीं चलता।

शिष्य: कोई सन्त हो सकता है, सर।

दाते साहब: कह नहीं सकता, हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है।

इस चर्चा के कुछ समय बाद दाते साहब ने घर से बाहर जाना ही बंद कर दिया। घर में भी इस विषय पर चर्चा उस शिष्य ने कभी नहीं सुनी। वास्तव में दाते साहब ने बोलना भी बहुत कम कर दिया था,

कभी एकाध शब्द बोलते और कभी वह भी नहीं। अतः इसके आगे क्या हुआ कौन कह सकता है।

(68)
वे अभी भी यहीं हैं

दाते साहब ने अप्रैल 22, 1986 को देह छोड़ दी थी। उनके इस प्रकार देह-त्याग से साधकों को बड़ी पीड़ा हुई और उनके अभाव में रविवार के कार्यक्रम नीरस लगने लगे। परमार्थ कार्य कैसे होगा यह चिन्ता भी थी ही। माताजी सब को आश्वस्त करते थे। कुछ लोग यह भी कहते थे कि वे गये नहीं, अभी भी यहीं हैं, केवल उनका देहरूप दिखाई नहीं देता है। परन्तु एक साधक ऐसा था जो प्रायः कहा करता था कि 'वे गये नहीं' ऐसा कहने से क्या लाभ? मैं उनको देख नहीं सकता, उनकी मधुर उपदेशात्मक वाणी सुन नहीं सकता, आवश्यकता पड़ने पर उनसे सहायता की प्रार्थना नहीं कर सकता, भूल या अपराध के लिए क्षमा-याचना नहीं कर सकता फिर वे गये नहीं ऐसा कहने से क्या लाभ? वे गये तो हैं ही चाहे आप मुझे कुछ भी कहें। देह पर दृष्टि न हो तो और कहाँ होगी?

तभी उसको एक स्वप्न आया। स्वप्न में उसने दाते साहब की मृत-देह को भूमि पर लेटे हुए देखा। वह स्वयं उनके पास बैठा सोच रहा था—'तीन दिन व्यतीत हो गए फिर भी यह देह ऐसे ही क्यों रखी हुई है? किसकी प्रतीक्षा चल रही है? इसका अंतिम संस्कार क्यों नहीं

किया जा रहा है?' (वास्तव में दाह-संस्कार देह-त्याग के दिन ही चार-पाँच घंटों बाद हो गया था)। तभी दाते साहब की देह हिली और वे उठ कर खड़े हो गये। उनके हाथ में ब्रेड के कुछ टुकड़े थे। उन्होंने एक टुकड़ा उस साधक को दिया, उसका हाथ पकड़ा और वहाँ से रवाना हो गये। वे एक पहाड़ी पर जाकर बैठ गये और अपने पांवों को दूसरी ओर लटका दिया। उस साधक ने कहा—'सर, ऐसे बैठना निरापद नहीं।' दाते साहब मुस्कुराये और कहा—'अच्छा' और तब वे दोनों वहाँ से रवाना हो गये। इसके साथ ही स्वप्न समाप्त हो गया।

वह साधक कहता है कि इस स्वप्न के पश्चात् उसका मन स्वस्थ और शान्त हो गया। उसे लगा कि 'वे गये नहीं' ऐसा विश्वास दिलाने के लिए ही दाते साहब ने इस प्रकार से स्वप्न में दर्शन दिये थे। अतः वह अब नि:संकोच कहता है कि 'वे अभी भी यहीं हैं, गये नहीं।'

॥श्री सद्गुरु प्रसन्न॥

॥श्रीराम॥

लेखक का अल्प परिचय

श्री जगन्नाथ व्यास की साम्पत्तिक स्थिति छोटेपन से ही कुछ परिस्थितियोंवश अत्यन्त दीन और विकट हो गई थी। जब चारों और अन्धकार छा जाता है तो परमेश्वर ही एकमात्र रक्षणकर्ता रह जाता है। कुछ कारणवश इनको, इनकी माताजी को और इनके छोटे भाइयों को मामाजी का संरक्षण प्राप्त हुआ और मामाजी ने व मौसेरे भाई ने चार वर्ष तक उनकी हर प्रकार से सहायता कर मैट्रिक तक ही पढ़ाई करवा दी। इन्होंने धैर्य के साथ-साथ स्वाभिमान को ही अपना भूषण माना। उन्होंने क्लर्क की नौकरी से जीवन-यात्रा शुरु की और परिवार के सम्पूर्ण दायित्व को, संघर्षपूर्ण जीवन के साथ, निभाते हुए स्व-अध्ययन द्वारा बी.ए. किया। जब एम.ए., दर्शन-शास्त्र, में प्रवेश लिया तो इनका परिचय 'संतकुळिचा राजा' दाते साहब से हुआ। इस प्रकार शिष्य के रूप में, प्रत्यक्ष संपर्क से, दाते साहब के परिवार से इनका सान्निध्य दिन-दिन बढ़ता गया। एम.ए. होने के बाद उन्होंने (जगन्नाथ व्यास) क्लर्क की नौकरी छोड़ दी और दाते साहब की कृपा से स्कूल में वरिष्ठ अध्यापक बने। ये हर गर्मी की छुट्टियों में हमारे यहाँ रहते थे।

संतों की कृपा-संपादन करने का एक मात्र सहज साधन उनकी किसी भी रूप में सेवा करना होता है। इस प्रकार इनकी गुरु चरणों में श्रद्धा एवं भक्ति बढ़ने से परमार्थ में रुचि बढ़ने लगी। सन् 1951 से हमारे यहाँ गुरु-आज्ञा से रविवारीय (पारमार्थिक) कार्यक्रम शुरु हुआ। वे हर रविवारीय कार्यक्रम में रुचि से भाग लेते थे। श्री सद्‌गुरु दाते साहब के मुख्य परमार्थ-प्रसार के कार्यक्रम में उन्होंने उत्साह से कार्य किया। इस प्रकार पारमार्थिक कल्याण के कार्यक्रम में दाते साहब ने जो उत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रंथों का प्रकाशन किया उसमें भी वे सहायक के रूप में काम करते रहे। परिणामस्वरूप दाते परिवार से इनका अटूट सम्बन्ध स्थापित हो गया। वर्तमान में तो श्री जगन्नाथ व्यास की योग्यता एक श्रेष्ठ सद्‌गुरु के श्रेष्ठ सेवक के रूप में प्रदीप्तशील है। सद्‌गुरु की कृपा हो तो क्या नहीं हो सकता है? अशक्य हो तो भी शक्य हो सकता है। संत तुकाराम महाराज के वचनानुसार 'आपण तरेल नव्हे ते नवल। कुळे उद्धरील सर्वांची तो॥' इनकी वजह से इनका सम्पूर्ण परिवार परमार्थ-मार्ग में लग गया। श्री सद्‌गुरु कृपा से इनकी साम्पत्तिक स्थिति भी समाधान पूर्ण हो गई। अभी तो जगन्नाथ व्यास का परिवार दाते परिवार से एक हो गया है। इतना निकट सम्बन्ध श्री सद्‌गुरु कृपा से ही संभव हुआ है। अतः यह देखकर मुझे अत्यन्त संतोष हुआ।

अस्तु,

मालती बाई व्ही. दाते

63, जसवंत सराय, जोधपुर।